॥ धर्म मूल का सम्यग्दर्शन है॥

आत्मधर्म

वर्ष तीसरा
अंक छठवां

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

आश्विन
२४७३

जाग रे जाग

किसी को भयंकर विषधर सर्प ने डस लिया हो और कोई गारुड़ी (मंत्रशास्त्री) ऐसा बलवत्तर मंत्र फेंके कि वह सर्प बिल में से बाहर आकर उस काटे हुऐ मनुष्य का विष चूस ले; इसी प्रकार चैतन्य प्रभु को अनादि काल से अज्ञानरूपी विष चढ़ रहा है; भगवान कुन्दकुन्दाचार्य उसे जागृत करते हैं कि हे चेतन! तू जाग रे जाग! यह समयसार के दैवी मंत्र तेरे शुद्धात्मस्वरूप को दिखाकर अनादि काल से चढ़े हुए विष को उतार देंगे। अब सोना नहीं पुसाता। जाग रे जाग, अपने चैतन्य को देख।

[पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन से]

स्वाधीन धर्म

सम्यक्दर्शन-ज्ञान पूर्वक स्वरूप स्थिरता की श्रेणी मांड़कर जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है; उसे कोई धर्म अथवा संयोग नहीं रोकता। कोई रोग हो, निर्धनता हो, स्त्री-पुत्रादि मर जाय, तथापि उस समय जीव सम्यक्दर्शन-ज्ञान को प्राप्त करके, निर्ग्रंथ मुनि होकर, स्वरूप स्थिरता की श्रेणी द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हो जाता है। शरीर की अवस्था बदलने से कहीं आत्मा तो बदल नहीं जाता? आत्मा का स्वभाव सदा पूर्ण शुद्धरूप है। जब वह स्वयं उसकी दृष्टि और स्थिरता करता है, तब वह वैसा हो जाता है।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग ३० दर्शक मासिक पत्र

छुटक अंक पांच आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

जो यह मानते हैं कि बाह्य द्रव्य की अनुकूल अवस्था हो तो धर्म हो, वे धर्म को पराधीन मानते हैं। धर्म पराधीन नहीं है। एक बार धर्म के लिये शरीर, कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र, पैसा, प्रतिष्ठा और रागद्वेष का विकल्प इत्यादि सर्वस्व समर्पण कर दे। किसी की ओर मत देख। जो धर्म के लिये पर द्रव्य की आशा करता है, उसे अपने स्वाधीन ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं है। विश्व के समस्त पर पदार्थ बदलते हैं। परवस्तु का चाहे जैसा परिणमन हो किन्तु मैं तो अपने स्वभाव में ही ज्ञाता रूप से परिणमित होता हूँ–इस प्रकार ज्ञानी पुरुष जानते हैं।

क्रिया और उसका विधि निषेध

[श्री समयसारजी गाथा २९६ के प्रवचन से]

प्रश्न—क्या यह सच है कि अध्यात्म के जाननेवाले ज्ञानी जन क्रिया का निषेध करते हैं?

उत्तर—नहीं; ज्ञानी जन ही क्रिया की सच्ची स्थापना करते हैं—ज्ञानी जन ही शुद्ध जीव को, रागादि विकार को, और शरीरादि जड़ को, यथार्थ रीत्या जानते हैं; इसलिये वे ही सच्ची समझ–ज्ञान, श्रद्धा इत्यादि को जीव की शुद्धक्रिया के रूप में तथा अज्ञान, पुण्य पापादि को जीव की विकारीक्रिया के रूप में और हलन–चलनादि को जड़ की क्रिया के रूप में यथोचित स्थापित करते हैं। इस तीन प्रकार की क्रिया में से जो यथार्थ समझ इत्यादि की क्रिया है, सो धर्म क्रिया है तथा अज्ञान–पुण्य–पापादि की विकारी क्रिया, अधर्म क्रिया है और शरीरादि जड़ की क्रिया, परवस्तु की क्रिया है। परवस्तु की क्रिया के साथ जीव के धर्म–अधर्म का संबंध नहीं है। इस प्रकार क्रिया के यथार्थ स्वरूप को जानना ही क्रिया का विधान अथवा स्थापन है। जो क्रिया के स्वरूप को ही नहीं समझते और जड़ की क्रिया को जीव की क्रिया मानते हैं तथा यह मानते हैं कि जड़ की क्रिया का कर्ता आत्मा है अथवा जड़ की क्रिया से आत्मा को हानि–लाभ होता है अथवा अधर्म की क्रिया को धर्म की क्रिया मानते हैं, वे ही क्रिया को उड़ा देते हैं। अज्ञानियों को वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप की खबर नहीं है; इसलिये वे यह नहीं जानते कि वस्तु की क्रिया कैसी होती है। अब यहाँ यह बताया जाता है कि—क्रिया का विधि–निषेध किसे कहते हैं अथवा क्रिया की स्थापना और विघटन क्या है?

१—यथार्थ समझरूप क्रिया से धर्म का प्रारंभ होता है किन्तु पुण्य की क्रिया से धर्म नहीं होता। इस प्रकार समझने में धर्म की क्रिया का धर्म क्रिया के रूप में स्थापन होता है और अधर्म की क्रिया का अधर्म क्रिया के रूप में स्थापन होता है; इसलिये वह यथार्थ है।

२—पुण्य क्रिया से धर्म होता है—ऐसा मानना, सो यथार्थ समझरूप धर्म क्रिया का स्थापन है और अधर्मक्रिया का धर्मक्रिया के रूप में स्थापन है, इसलिये यह मान्यता मित्या है।

३—जीव की अपनी भावक्रिया से हानि-लाभ होता है और शरीर की क्रिया से हानि-लाभ नहीं होता; इस प्रकार की समझ में जीव की क्रिया का जीव की क्रिया के रूप में स्थापन है और जड़ की क्रिया का जड़ की क्रिया के रूप में स्थापन है, जो कि यथार्थ है।

४—जीव को अपनी भावक्रिया से हानि-लाभ होता है और शरीर की क्रिया से भी हानि लाभ होता है, इस मान्यता में अजीव की क्रिया का जीव के रूप में स्थापन है; इसलिये वह मिथ्या है।

५—यह मानना कि शरीर की क्रिया को जीव कर सकता है, सो जड़ की क्रिया का उत्थापन (निषेध) है और जीव की क्रिया की जड़ के रूप में स्थापना है; इसलिये वह मिथ्या है।

६—शरीर की क्रिया स्वतंत्ररूप से ही होती है, जीव उसका कर्ता नहीं है; इस प्रकार की समझ में जड़ की क्रिया का जड़ के रूप में स्थापन है और जीव की क्रिया का जीव के रूप में स्थापन है, जो कि यथार्थ है। 'क्रिया' का अर्थ है पर्याय का परिवर्तन। क्रिया के स्वरूप को जानने के लिये वस्तु का स्वरूप जानना चाहिये। व्रतधारी संत-मुनि को व्रत का जो शुभविकल्प उठता है, वह आत्मा की धर्म क्रिया नहीं किन्तु विकार की क्रिया है। आत्मद्रव्य में से ही मोक्ष पर्याय आती है इसलिये आत्मा की क्रिया से ही-सम्यक्दर्शन-ज्ञान चारित्र से ही मोक्ष होता है। विकार की क्रिया या शरीर की क्रिया मोक्ष का कारण नहीं होती। आत्मा की स्वत: मुक्ति होती है और व्रतादि के शुभ विकार भाव से भी मुक्ति होती है; जो यह मानता है वह विकारी क्रिया और अविकारी धर्म क्रिया को एक मानता है, इसलिये वह एकांत मान्यता है—मिथ्या मान्यता है।

ग्राहकों से निवेदन

किसी आकस्मिक कारण को छोड़कर 'आत्म धर्म' प्रत्येक मास के शुक्ल पक्ष की द्वितीया को नियमित प्रगट हो जाता है, यदि उसके बाद एक हफ्ते तक अंक प्राप्त न हो तो पत्र लिखना चाहिये।

सभी ग्राहकों को प्रत्येक अंक खूब देखभाल करके भेजा जाता है, फिर भी यदि किसी कारण से किसी ग्राहक के पास अंक न पहुंचे तो योग्य शिकायत आने पर—यदि वह अंक स्टोक में हो तो पुनः भेज दिया जाता है; किन्तु नियमानुसार हम इसके लिये बद्ध नहीं हैं।

आत्मधर्म संबंधी पत्र व्यवहार करते समय अथवा मूल्य भेजते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखें।

व्यवस्थापक—आत्मधर्म कार्यालय—मोटा आंकड़िया—(काठियावाड़)

श्री समयसारजी गाथा १३ तथा श्री पद्मनंदि पंचविंशतिका के ऋषभजिन स्तोत्र पर पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा किये गये

प्रवचनों का सार

अविच्छिन्न शासन धारा

श्री शांतिनाथ भगवान से लेकर आजतक वीतराग शासन अविच्छिन्नरूप से चला आ रहा है। भगवान ऋषभदेव के पश्चात् और भगवान शांतिनाथ से पूर्व बीच में सात बार विच्छेद हो गया था। किन्तु भगवान शांतिनाथ से लेकर आज तक अविच्छिन्न शासन चला आ रहा है। इस प्रकार गणधर, इन्द्र और चक्रवर्तियों के द्वारा सेवित जैन शासन जयवंत वर्तते हैं।

१—देव-शास्त्र-गुरु

जिन्हें आत्मा का हित करना है, उन जीवों को सबसे पहले क्या करना चाहिये? इसके उत्तर में कहते हैं कि पहले सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की पहिचानपूर्वक मान्यता होनी चाहिये। अरिहंतदेव, निर्ग्रंथ गुरु और आत्मा की पूर्णता को बतानेवाले अनेकांतस्वरूप शास्त्रों की ही मान्यता होनी चाहिये, वे ही हित में निमित्त हो सकते हैं परन्तु, कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र किसी भी

तरह हित में निमित्त नहीं हो सकते। जिसे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा ही में भूल है, उसका आत्महित हो ही नहीं सकता,—फिर चाहे वह भले ही अपनी मान्यता के अनुसार त्याग-व्रत इत्यादि करता रहे। इसलिये आत्महित के जिज्ञासुओं को सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को पहिचानकर मिथ्या देव-गुरु-शास्त्र की मान्यता सर्व प्रथम छोड़ना चाहिये।

२—भक्ति

आत्मा के स्वभाव को समझकर सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्रगट करना, सो निश्चय भक्ति है, और आत्मा की प्रतीति के पश्चात् जहाँ सम्पूर्ण वीतरागता न हो, वहाँ पूर्ण वीतरागी परमात्मा की पहिचान करके उनकी भक्ति और अर्पणता का जो शुभराग होता है, सो व्यवहार भक्ति है। जिसे अरिहंतदेव की पहिचान और उनके प्रति भक्ति या अर्पणता नहीं है, उसके अपने शुद्धात्मा की भक्ति अंकुरित नहीं हो सकती। इस जगत् में पूर्ण परमात्मस्वरूप को बतानेवाले श्री अरिहंत परमात्मा ही हैं। पूर्ण परमात्मस्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक जीवों को पहले अरिहंतदेव की भक्ति उछले बिना नहीं रहती।

जैसे पतिव्रता स्त्री के दूसरा पति नहीं होता, उसी प्रकार सच्चे जिज्ञासु जीव के अरिहंतदेव के सिवाय दूसरा देव नहीं होता। जो अरिहंतदेव के अतिरिक्त कुदेवादि को किसी भी प्रकार मानता है, वह वीतराग का भक्त नहीं है, जिज्ञासु नहीं है। पति के गुणों को जाने बिना पति की ओर प्रेम उल्लसित नहीं होता; उसी प्रकार सर्वज्ञ वीतराग देव को उनके गुणों के द्वारा ठीक पहिचाने बिना उनके प्रति सच्ची भक्ति नहीं होती। तीर्थंकर प्रभु के जन्मकल्याणक का उत्सव स्वर्ग के देव भी मनाते हैं। उनका जन्म होने पर एकावतारी इन्द्र भी भक्ति से नाच उठता है और कहता है कि धन्य अवतार! धन्य प्रभु! उस देह से तेरी मुक्ति होनेवाली है। तू असंख्य जीवों का उद्धार करनेवाला है। असंख्य देवों का स्वामी और अपार वैभव का धनी जो इन्द्र है, सो भगवान के चरणों में नत मस्तक हो जाता है। हे नाथ! आप ही तरन-तारन हैं; आप ही इस जगत के कल्याणकारी हैं,-इस प्रकार वीतराग के भक्त वीतराग पर अर्पित हो जाते हैं। जो वीतराग भगवान को नमस्कार करता है, वह वीतरागता का ही आदर करता है, राग का नहीं। और वह कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र को तो स्वप्न में भी सच्चा नहीं मानता। भले शिरच्छेद हो जाय किन्तु वह सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के अतिरिक्त दूसरे को नहीं मानता और राग में धर्म नहीं मानता। यह तो अभी व्यवहारभक्ति है अर्थात् धर्म प्राप्त करने की पात्रता है।

भगवान के भक्त जहाँ-तहाँ भक्ति का ही यशोगान करते हैं। चन्द्रमा में जो हिरन जैसा आकार दिखाई देता है, उसके सम्बन्ध में आचार्यदेव भक्ति करते हुये अलंकारिक भाषा में कहते हैं कि हे नाथ! हिरन को संगीत बहुत प्यारा लगता है; सौधर्म स्वर्ग के देव अति मधुर स्वर से आपकी वीतरागता का गुणगान करते हैं, उन देवों का संगीत सुनने के लिये इस लोक का हिरन यहाँ से चन्द्र लोक में जा पहुँचा है और वहाँ बैठा-बैठा तेरे गुणगान सुनता है।

यहाँ कोई शंका करता है कि चन्द्र लोक में उस हिरन को घास कहाँ से मिलता होगा? वहाँ घास तो होता नहीं है। उसके समाधानार्थ कहते हैं कि हे भाई! वह भगवान के गुणगान सुनने में इतना तल्लीन होता है कि वह भूख को भूल जाता है। भगवान के गुणगान सुनते हुए उसका आत्मा आनंद से डोलने लगता है। उसी प्रकार जिसे आत्मा की रुचि है, वह वीतराग के गुणगान करता है। यदि जीव अंतरंग के उल्लासपूर्वक एक बार भी वीतराग प्रभु की सच्ची भक्ति करे तो जन्म-मरण का अन्त अवश्य हो जाता है। यहाँ मात्र शुभराग की बात नहीं है, परन्तु वीतराग की भक्ति में वीतराग भाव की पहिचान और वीतरागभाव का अंतरंग से आदर ही मुक्ति का कारण है।

प्रश्न—शुभराग, पुण्य है और पुण्य से धर्म नहीं होता, तब फिर भक्ति का उपदेश किस लिये किया है?

उत्तर—यह सच है कि राग से धर्म नहीं होता, परन्तु प्रथम भूमिकावाले जिज्ञासु को तथा साधक धर्मात्मा के राग होता है, उस राग का निषेध होता है, वीतरागभाव की भावना होती है, वह साधक धर्मात्मा के और प्रथम भूमिकावाले जिज्ञासु के शुभराग के कारण वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति का आवेग हुए बिना नहीं रह सकता। यदि सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति जागृत न हो और संसार के प्रति उल्लास बना रहे तो समझना चाहिये कि उस जीव को आत्मा की रुचि नहीं है और यदि मात्र सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के राग में ही लीन रहे तथा तत्त्व का निर्णय न करे तो उसे धर्म का लाभ नहीं होता।

३—तत्त्वनिर्णय और भक्ति

यदि कोई कहे कि तत्त्वनिर्णय में हमारी बुद्धि काम नहीं करती, हम तो मात्र भक्ति इत्यादि ही करते हैं। उसके लिये कहते हैं कि हे भाई! तत्त्वनिर्णय हुये बिना वीतराग के प्रति सच्ची भक्ति नहीं होती। हे भाई! यदि तेरी बुद्धि तत्त्वनिर्णय करने में किंचित्मात्र कार्य न करे तो मनुष्य भव प्राप्त करने से क्या लाभ? उस मनुष्य भव में जो तत्त्वनिर्णय करना चाहता है, वह अवश्य कर सकता है।

जो सर्वज्ञ वीतराग के अतिरिक्त अन्य को भी सच्चा मानता है और सब के प्रति भक्ति भाव रखता है, वह भ्रष्ट है।

४—सती के दूसरा पति नहीं होता

गुजरात में जसमा ओडण नाम की सती हो गई है। पाटण के राजा सिद्धराज जयसिंह ने उससे कहा था कि यदि तू मुझे स्वीकार करे तो मैं तुझे रानी बनाना चाहता हूँ। सती जसमा ने प्राण दे दिये किन्तु उसने सिद्धराज की बात को स्वीकार नहीं किया। सती को मरना स्वीकार होता है किन्तु उसके दूसरे पति नहीं हो सकता। इसी प्रकार वीतराग के सच्चे भक्त कहते हैं कि हम वीतराग सर्वज्ञ की जाति के आत्मा हैं। हमारा स्वामी सर्वज्ञ वीतराग ही हो सकता है। हम मर भले ही जाऐं किन्तु रागी देव को नहीं मानेंगे। जैसे सती के दूसरा पति नहीं होता, उसी प्रकार हमारे भी सर्वज्ञ के अतिरिक्त दूसरा देव नहीं हो सकता। जो सर्वज्ञ वीतराग को देव के रूप में मानता है, वह कदापि हिंसादि भाव में धर्म नहीं मान सकता, और वह अपनी सुख-सुविधा के लिये परजीव की हिंसा करने का आदेश कदापि नहीं दे सकता, और न उसे मान ही सकता है। मनुष्यों के हितार्थ बंदर इत्यादि की हिंसा करना और उसे धर्म मानना घोर अत्याचार है—महापाप है; यह संकल्पी स्थूल महा हिंसा है। पंचेन्द्रिय प्राणियों का वध घोर हिंसा है, तथापि जो उसमें धर्म मानता है और उस हिंसा का अनुमोदन करता है, वह वीतरागदेव का तीव्र विरोधी और महा हिंसक है। उसकी बात को माननेवाला वीतराग को नहीं मानता।

५—मेंढ़क की प्रभु भक्ति

मेंढ़क के जब प्रभु भक्ति जागृत हुई, तब वह अपने मुँह में फूल लेकर भगवान की पूजा के लिये निकल पड़ा; मार्ग में वह श्रेणिक राजा के हाथी के पैर के नीचे कुचल कर मर गया और भगवद् भक्ति की भावना से देव हुआ। देव होकर तत्काल ही वह समवशरण में आया और श्रेणिक राजा से पहले स्वयं भगवान महावीर की भक्ति-पूजा में लग गया। भक्तों को भक्ति का विरह सहन नहीं होता। मेंढ़क मरकर देव हुआ और देव होकर उसने अपनी भक्ति पूर्ण की। सच्चे भक्तों की भक्ति में अंतराय नहीं रह सकता।

६— भक्त की भावना

भगवान की भक्ति का प्रसंग आने पर भक्त रोके नहीं रुकता। हे प्रभु! आप ही हमारे मोक्ष के दाता हैं, आप ही हमारे मोक्ष हैं। हे नाथ! आपके अतिरिक्त (शुद्धात्मस्वरूप के अतिरिक्त) दूसरा

हमें कुछ नहीं चाहिये। पुण्य तो हमारा दास होकर रहेगा। जब तक हम रहेंगे, तब तक वह दास बना रहेगा। और जब हम भक्ति का विकल्प तोड़कर स्वरूप में लीन होकर सिद्ध होंगे, तब पुण्य और पुण्य का विकल्प दोनों दूर हो जायेंगे। हे नाथ! स्वर्ग में जाकर वहाँ से चयकर यदि तीर्थंकरादि पद प्राप्त होगा तो वह आपकी ही भक्ति के ही प्रभाव से होगा। इस प्रकार शुद्धात्मा की भक्ति की भावना में ज्ञानी के उच्च पुण्य का बंध हो जाता है किन्तु ज्ञानी के उसकी भावना नहीं होती, उसके तो वीतरागता की ही भावना होती है। हे प्रभु! हम अपने शुद्धात्मस्वरूप की रुचि के निकट आपके अतिरिक्त दूसरे की प्रशंसा का विकल्प भी नहीं करेंगे। आपके आगे जगत के समस्त पद तुच्छ तृण समान हैं।

७—पद्मनंदि पंचविंशतिका

इस पद्मनंदि शास्त्र के कर्ता आचार्य पद्मनंदि नामक महा संत मुनि हो गये हैं। उन्होंने आध्यात्मिक अलंकारयुक्त अत्यन्त सुन्दर रचना की है। यह पद्मनंदि पंचविंशतिका सत् श्रुत है और यह सत् श्रुत, इन्द्रिय निग्रह के अभ्यासपूर्वक सेवन करने योग्य है। इसका फल अलौकिक है– अमृत है; ऐसा श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है।

८—स्वतन्त्रता

जो निष्कारण होता है अर्थात् जो भाव पर कारण की अपेक्षा नहीं रखते, वे पारिणामिकभाव हैं। क्रोधादि कषायभाव भी पारिणामिकभाव के रूप में हैं क्योंकि वे भाव, पर कारण को अपेक्षा न रखने से निष्कारण हैं।

क्रोधादि समस्त भाव स्वतन्त्र अकारणीय हैं, इसलिये वास्तव में वे सब भाव पारिणामिक भाव हैं। कषाय, पारिणामिकभाव के रूप में है क्योंकि वह जीव की अपनी योग्यता से होती है, उसका कारण कोई पर नहीं है। निज की अपेक्षा को लेकर होने से वह निष्कारण है और इसीलिये पारिणामिक है। जब पर निमित्त की अपेक्षा को लेकर कहते हैं, तब व्यवहार से कर्म के उदय को उसका कारण मानकर उसे उदयभाव कहते हैं, किन्तु वास्तव में तो वह जीव की पर्याय की उस समय की स्वतंत्र योग्यता से ही वह भाव हुआ है।

प्रत्येक समय की पर्याय स्वतंत्र-निष्कारण है—ऐसी प्रतीति करने के बाद, विकार के समय निमित्त की उपस्थिति का ज्ञान कराने के लिये उदयादि भाव बताये हैं। क्रोध, जीव की योग्यता से होता है; इसलिये क्रोधादि भाव, पारिणामिकभाव का विकार है, इसलिये उसे पारिणामिकभाव कहा जाता है।

'क्रोध जीव का त्रैकालिक स्वभाव है'—ऐसा यहाँ नहीं बताया, परन्तु क्रोध किसी पर के कारण से नहीं होता, वह जीव की अपनी योग्यता से होता है, यह बताने के लिये उसे पारिणामिकभाव कहा है। जो ऐसी पर्याय की भी स्वतंत्रता को समझता है, उसका अपनी पारश्रितता दूर होकर स्वाश्रितोन्मुखता प्राप्त होती है, अर्थात् स्वाश्रित द्रव्यदृष्टि के बल से उसका संसार समाप्त हो जाता है।

९—समझने के लिये बारंबार अभ्यास करना चाहिये

अप्रतिबुद्ध शिष्य को ज्ञान प्राप्ति के लिये शास्त्र में एक ही बात सौ बार कहनी पड़े, तथापि उसमें पुनरुक्ति दोष नहीं आता; यह बात श्री धवलशास्त्र (पुस्तक तीन, पृष्ठ ११४) में कही है। जिस जीव को आत्मा की रुचि हो, उसे बारम्बार आत्मस्वभाव का उपदेश श्रवण करना चाहिये, और उसके अभ्यास में उकताना नहीं चाहिये-ऊबना नहीं चाहिये।

१०—धर्म को समझना सरल है

प्रश्न—आपने कहा है कि आत्मा की पहिचान से ही धर्म होता है किन्तु वह धर्म तो कठिन मालूम होता है; तब क्या करना चाहिये ?

उत्तर—धर्म कठिन नहीं है। जिसमें किसी भी पर की आवश्यकता नहीं होती और मात्र जो अपने से ही हो सकता है, वह कठिन कैसे कहा जा सकता है ? आत्मा की सच्ची पहिचान करने के लिये शरीर, मन, वाणी, धन, कुटुम्ब अथवा पुण्य इत्यादि कोई भी अपेक्षित नहीं होता। वह मात्र अपने से ही हो सकती है, इसलिये इसे करना सरल है। आत्मा ज्ञान अथवा अज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता। जिसे अपने आत्मा का मूल्य मालूम नहीं है, उसी को आत्मा की पहिचान करना कठिन मालूम होती है।

धर्म तो आत्मा को करना है, और आत्मा कौन है, यह जानना नहीं है तो फिर धर्म कहाँ से होगा ? शरीर सूख जाने से कहीं उसमें से धर्म नहीं निकलता।

११—आत्मा के अवयव

प्रश्न—आत्मा के अवयव होते हैं या नहीं ?

उत्तर—हाँ, आत्मा के असंख्य प्रदेश होते हैं, वे सब प्रत्येक आत्मा के अवयव हैं।

प्रश्न—एक आत्मा के अमुक अवयव कहने से उसके खंड नहीं हो जायेंगे ?

उत्तर—अवयव होने पर भी वस्तुत्व की अपेक्षा से आत्मा अभेद है। यदि प्रदेशरूप

अवयव न हों तो संकोच-विस्तार नहीं हो सकेगा। समस्त अवयवों को धारण करनेवाला अवयवी एक ही है।

१२—शुद्धात्मा की पहिचान

आत्मा स्वयं आनंद कंद चैतन्यरूप है। उसे नहीं पहिचाननेवाला अज्ञानी, पुण्यभाव में ही आत्मा को बेच डालता है-वह आत्मा को पुण्य के बराबर ही मानता है। जिसे शरीर के भोग विषय अच्छे लगते हैं और जो उसमें सुख मानता है, उसके भाव दुर्गति के ही कारण होते हैं। जो दया, व्रतादि के शुभराग जितना ही आत्मा को मान लेता है और उस में सुख की कल्पना करता है, वह भी आत्मा को विपरीत ही मानता है। उसकी मान्यता भी संसार दु:ख का ही कारण है। हे भाई! आत्मा के यथार्थ स्वरूप की पहिचान किये बिना पुण्य-पाप के अनंत जन्म-मरण में दु:खी होता रहा है। जिसने आत्मा को नहीं जाना और विकार तथा शरीर के प्रति ममता करता रहा है, वह एक भव को पूरा करके दूसरे जन्म-मरण में ही रुलता रहता है। अपने आत्मा की महिमा और रुचि की जागृति बिना कदापि जन्म-मरण से छुटकारा नहीं हो सकता।

शुद्धनय आत्मा के त्रिकाल शुद्धस्वरूप को परोक्ष दिखाता है। आत्मा का शुद्धस्वरूप सभी समझ सकते हैं, इसलिये ज्ञानी जन उसे समझाते हैं कि हे प्रभु! तू इस समय आत्मा के शुद्ध स्वरूप को समझ ले कि जिससे तुझे स्वयं अपने आत्मा से विश्वास हो जाए कि अब एक-दो भव में ही संसार की समाप्ति होने वाली है। निज को ऐसी नि:शंक प्रतीति होनेवाली समझ अभी हो सकती है। भले ही राग-द्वेष सर्वथा दूर न हो जाये, तथापि राग द्वेष रहित शुद्ध ज्ञानस्वरूप की प्रतीति हो सकती है। ऐसी प्रतीति का करना ही सम्यक्दर्शन है।

१३—सम्यक्दर्शन का कार्य

प्रश्न—हम गृहस्थों के लिये सम्यक्दर्शन किस काम का?

उत्तर—हे भाई! जगत के समस्त जीवों को धर्म के लिये सम्यक्दर्शन ही सर्व प्रथम उपाय है। तीन काल और तीन लोक में सम्यक्दर्शन के समान परम उपकारी दूसरा कोई नहीं है। एक क्षण मात्र का सम्यक्दर्शन अनंत भवों का नाश करता है। अष्टपाहुड़ में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है कि—"श्रावक को पहले सुनिर्मल और मेरुवत् निष्कंप सम्यक्त्व को ग्रहण करना चाहिये और दु:ख के क्षयार्थ उसी को ध्यान में ध्याना चाहिये।" (मोक्षपाहुड़, गाथा ८६)

"बहुत कहने से क्या सिद्ध होने वाला है? जो नर प्रधान भूतकाल में सिद्ध हुए और भविष्य काल में सिद्ध होंगे, उसमें इस सम्यक्दर्शन की ही महिमा समझना चाहिये।" (मोक्ष पाहुड़, गाथा ८८)

''मुक्ति को करनेवाला सम्यक्त्व है; जिसे पुरुष ने उसे स्वप्न में भी मलिन नहीं किया वही पुरुष धन्य है, वही सुकृतार्थ है, वही शूरवीर है, वही पंडित है, और वही मनुष्य है। (मोक्षपाहुड़, गाथा ८९)

श्री समंतभद्राचार्य ने रत्नकरंड श्रावकाचार में कहा है कि तीन काल और तीन लोक में उस जीव का सर्वोत्कृष्ट उपकार करनेवाला सम्यक्त्व के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है और सबसे अधिक अहित करनेवाला मिथ्यात्व के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। सम्यक्त्व के समान उपकार करनेवाले तीर्थंकर देव भी नहीं हैं। संसार के समस्त दुःखों का नाश करनेवाला और आत्मकल्याण को प्रगट करनेवाला एक सम्यक्त्व ही है, इसलिये उसे प्रगट करने का पुरुषार्थ करो।

१४—''नवतत्त्वों की परिपाटी को छोड़कर एक आत्मा ही हमें प्राप्त हो''!

''जहाँ तक केवल व्यवहारनय के विषयभूत जीवादिक भेदरूप तत्त्वों का ही श्रद्धान रहता है, वहाँ तक निश्चय सम्यक्दर्शन नहीं होता। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि उन नवतत्त्वों की संतति (परिपाटी) को छोड़कर शुद्धनय का विषयभूत एक आत्मा ही हमें प्राप्त हो; हम दूसरा कुछ नहीं चाहते। यह वीतरागी अवस्था की प्रार्थना है; कोई नयपक्ष नहीं है। यदि सर्वथा नय का पक्षपात ही हुआ करे तो मिथ्यात्व ही है।'' ***(समयसार पृष्ठ २६)***

जो ज्ञानी होते हैं, उनके व्यवहार का ज्ञान होता है परंतु वे केवल व्यवहार को नहीं मानते। जो नव तत्त्वों को नहीं पहिचानते, वे स्थूल मिथ्यादृष्टि हैं, उनके तो उच्च प्रकार का शुभराग भी नहीं होता। जो केवल व्यवहार के द्वारा नव तत्त्वों की रागमिश्रित श्रद्धा करते हैं, वे भी मिथ्यादृष्टि हैं शुद्धनय के द्वारा मात्र शुद्ध आत्मा को जाने बिना नव तत्त्वों के विकल्प के भेद से जो आत्मा को मानता है, उसे सम्यक्दर्शन नहीं होता, और बिना सम्यक्दर्शन के भक्ति, दान, दया इत्यादि करना, सब अरण्य रोदन के समान है। जैसे वन में सिंह के मुख में ग्रसित हिरन की पुकार को सुननेवाला कोई नहीं होता; उसी प्रकार संसार दुःख से उद्धार करने के लिये सम्यक्दर्शन के अतिरिक्त अन्य कोई शरणभूत नहीं होता।

आचार्य देव भावना करते हैं कि 'मैं जीव हूँ, अजीव नहीं हूँ, पुण्य-पाप विकार हैं', इत्यादि प्रकार से नवतत्त्व की परिपाटी के विकल्प में लगने से मात्र आत्मा प्रतीति में नहीं आता और आत्मा का धर्म नहीं होता। इसलिये एक आत्मा में उन नवतत्त्वों के विकल्पों को छोड़कर हमें मात्र शुद्धात्मा ही प्राप्त हो। व्यवहार के भेद का लक्ष छोड़कर शुद्धनय का विषयभूत आत्मा ही हमें प्राप्त

हो—ऐसी भावना सम्यक्दृष्टियों की और मुनियों की होती है। जितने अंश में भेद टूटकर आत्मा में अभिन्नता होती है, उतने ही अंश में शुद्धता होती है। भेद का जितना लक्ष रहता है, उतना ही राग होता है; इसलिये यहाँ भेद को गौण करके अभेद की भावना है। यदि पहले अभेद स्वभाव को ज्ञान से जाने, तभी तो भावना करेगा?

सत्य-असत्य का विवेक करके जो सत्य को स्वीकार करता है, उसे भी सत्य के प्रति आदर है। असत् की मान्यता छोड़कर जो सत्य को स्वीकार करता है, उसका झुकाव सत्य की ओर होता है। सत्य यही है, इसी के मंथन से सम्यक्दर्शन और केवलज्ञान होगा-ऐसा जो अंतरंग से सत्य का माहात्म्य होता है, वही केवलज्ञान की प्रणालिका है अर्थात् यही मोक्ष की श्रेणी का उपाय है।

पुण्य-पाप के विकल्प असत् हैं और आत्मा त्रिकाल सत् है। आचार्यदेव कहते हैं कि हमें असत् नवतत्त्वों के विकल्प से कोई मतलब नहीं है, हमारी भावना तो सत् स्वभाव में एकाग्रता करके वीतराग होने की ही है। मैं आत्मा हूँ—ऐसा भेद का विकल्प तोड़कर शुद्धस्वभाव के अनुभव में स्थिर हो जाऊँ—इसमें नयपक्ष के विकल्प की माँग नहीं है किन्तु नय के पक्ष का विकल्प तोड़कर शुद्धात्मा की प्राप्ति की ही भावना है।

सभी जीव ज्ञानस्वरूप हैं। ज्ञान की पर्याय के पाँच प्रकार हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, केवलज्ञान। इनमें से केवलज्ञान तो साधकदशा में होता नहीं है और अवधि तथा मन:पर्ययज्ञान साधकरूप में कार्यकारी नहीं है, क्योंकि उसका विषय परद्रव्य है। शेष जो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान हैं, वे ही आत्मा के लिये साधकरूप हैं। उनमें भी मतिज्ञान तो ज्ञान की प्रथम भूमिका है, अर्थात् वह ज्ञान आत्मा को सामान्य रूप से जानता है। किन्तु विशेष प्रकारों को वह नहीं जानता। श्रुतज्ञान आत्मा के समस्त प्रकारों को परोक्ष जानता है। श्रुतज्ञान से आत्मा को जानने के दो प्रकार हैं—(१) जो त्रिकाल एकरूप शुद्धस्वभाव को जानता है, उसे शुद्धनय कहते हैं और (२) जो क्षणिक पर्यायों को जानता हैं, उसे व्यवहारनय कहते हैं। अब यहाँ इस विषय पर विचार हो रहा है कि इन दो में से किस प्रकार से आत्मा को मानने से सम्यक्दर्शन होता है।

दो नयों से आत्मा को जानने के बाद शुद्धनय के विषय को मुख्य करे और व्यवहार का लक्ष छोड़ दे तो इसमें एकान्तरूप नयपक्ष नहीं है किन्तु वह भेद के राग को दूर करके स्वभावोन्मुख होता है। यदि दोनों नयों को जानकर अभेद स्वभाव में उन्मुख न हो तो नयों का ज्ञान किस काम का? दो नयों का ज्ञान अनेकांत है परन्तु उसका प्रयोजन सम्यक् एकान्त-शुद्धनय के विषयभूत शुद्धात्मा की प्राप्ति करना है।

यदि दोनों नयों के ज्ञान को ही स्वीकार न करे तो एक नय का ही पक्ष रहने से एकान्तरूप मिथ्यात्व होता है; और दोनों नयों को जानने के बाद शुद्धनय की ओर उन्मुख न हो तो भी मिथ्यात्व दूर नहीं होता। यहाँ दोनों नयों का ज्ञान करने के बाद, नय के विकल्पों को छोड़कर स्वभावोन्मुख होने की भावना है। नव तत्त्वों को छोड़कर मात्र शुद्धात्मा की मांग करने में शुद्धनय का आग्रह नहीं है किन्तु विकल्प को तोड़कर अभेद स्वभाव में उन्मुख हो जाता है। अभी अपूर्ण दशा है, इसलिये अभेद स्वभाव की एकाग्रता के द्वारा पूर्णता करनी है।

स्वभावोन्मुख होने की भावना करनेवाले के नव तत्त्वों के विचारों का ज्ञान तो है, परन्तु उसके लक्ष से विकल्प है, इसलिये उस विकल्प को दूर करने की बात कही है। आचार्य कहते हैं कि राग और स्वभाव—दोनों को जानकर हम अब मात्र स्वलक्ष में उन्मुख होकर वीतराग होना चाहते हैं;—इस प्रकार राग से इन्कार है किन्तु ज्ञान से इन्कार नहीं है। केवलज्ञान तो है नहीं और श्रुतज्ञान में पर्याय के ऊपर लक्ष जाने पर विकल्प उठता है, इसलिये अभी पर्याय का लक्ष छोड़कर द्रव्य की एकाग्रता द्वारा उस विकल्प को तोड़कर पूर्ण होने की भावना है और पूर्ण होने के बाद दोनों पहलू एक साथ ज्ञात होंगे।

यह बात जिज्ञासुओं के लिये विशेष प्रयोजनभूत है; इस बात को विशेष चर्चा करके निश्चित करना चाहिये; यदि समझ में न आये तो उसे छोड़ नहीं देना चाहिये किन्तु भीतर ही भीतर मंथन करके उसका निर्णय करना चाहिये।

त्रिकाल स्वभाव का और राग का ज्ञान करने के बाद स्वभावोन्मुख होने पर राग को गौण किया परन्तु यहाँ ऐसी भावना नहीं है कि राग को सदा रखा ही जाय। आचार्यदेव कहते हैं कि पूर्ण वीतराग होने तक भेद के विकल्पों को छोड़कर हमारा झुकाव शुद्धात्मा की ओर ही हो। पूर्ण केवलज्ञान होने के बाद द्रव्य-पर्याय (दोनों) का ज्ञान एक साथ होता है, उसमें विकल्प नहीं है।

अहो! विस्तृत धर्म काल के समय आठ वर्ष की महान राजकुमारी भी स्वभाव की ऐसी बात को सहर्ष समझ लेती थी; उसे सुनते ही ऐसा उल्लास होता था कि अहो! हमें अपने चैतन्य निधान मिल गये। ऐसे उल्लासपूर्वक स्वभाव की प्रतीति करके वह आत्मानुभव करती थी; तब फिर वयस्क जीवों की समझ में क्यों नहीं आयेगा?

आत्मा का स्वभाव समझने का है। जो आत्मा रुचिपूर्वक समझना चाहता है, उसे अवश्य समझ में आता है। यहाँ जो शुद्धात्मा की प्राप्ति की भावना कही है, सो वह मात्र आचार्यदेव की नहीं

समझनी चाहिये किन्तु सभी आत्माओं को ऐसे शुद्धात्मा की ही भावना करनी है। नव तत्त्वों को जानकर भी जो वीतराग शुद्ध चैतन्यस्वभाव को नहीं जानता, वह मिथ्यादृष्टि है और जो नव तत्त्वों को ही नहीं जानता, वह स्थूल-घोर मिथ्यादृष्टि है।

पहले चैतन्यस्वभाव में आंशिक एकता होने पर सम्यक्दर्शन प्रगट होता है और मिथ्यादर्शन संबंधी विकल्प दूर हो जाते हैं। फिर विशेष एकता करने पर चारित्र संबंधी विकल्प भी दूर हो जाते हैं। इस प्रकार प्रारम्भ से पूर्णता तक स्वभाव की एकता का ही मार्ग है।

अज्ञानी जीव, नव तत्त्वों का विचार करता हुआ राग में एकता करता है। जो पुण्य के बराबर ही आत्मा को मानता है अथवा मोक्ष पर्याय के बराबर ही मानता है, वह पर्यायदृष्टि है, और उसमें सम्पूर्ण आत्मा की स्वीकृति नहीं होती। ज्ञानी के नव तत्त्वों का विकल्प छूटकर स्वभाव की आंशिक एकता प्रगट होती है अर्थात् सम्यक्दर्शन प्रगट होता है, पश्चात् विकल्प उठने पर पुण्यादि तत्त्वों का ज्ञान करता है परन्तु उसमें एकता नहीं करता अर्थात् इस प्रकार पर्यायदृष्टि की एकता नहीं करता कि मैं पुण्य जितना ही हूँ अथवा मोक्षदशा के बराबर ही हूँ; किन्तु त्रिकाल स्वभाव की एकता के द्वारा जानता है, इसलिये उसे ज्ञान की ही दृढ़ता होती है और राग टूटता जाता है। मेरा ज्ञान नव तत्त्वों को जाननेवाला है, ज्ञान नव रूप नहीं होता-इस प्रकार ज्ञान की एकता करने पर विकार की एकता टूट जाती है। इसलिये ज्ञानी भावना करता है कि-हमारे चैतन्य की प्रतीति हटने न पाये, चैतन्यस्वभाव के अनुभव में बीच में भेद न पड़े और मात्र चैतन्य के ही अनुभव में उन्मुख होकर वीतरागता हो, यही प्रार्थना है।

१५—ज्ञान और भक्ति

जो जीव ज्ञान की इच्छा रखता है किन्तु ज्ञानी के प्रति जिसकी भक्ति नहीं है—ऐसे जीव के प्रति श्रीमद् राजचंद्रजी ने एक पत्र लिखा है कि—"वियोगजन्य ताप से संतप्त विषय को लेकर आपका एक पत्र लगभग चार दिन पूर्व प्राप्त हुआ था; उसमें प्रदर्शित इच्छा के संबंध में संक्षिप्त शब्दों में ही कुछ कहने का समय है। बात यह है कि आपको जैसी ज्ञान की जिज्ञासा है, वैसी भक्ति की नहीं। भक्ति प्रेम रूप के बिना ज्ञान शून्य ही है, तब फिर उसे प्राप्त करके क्या करना है ? जो (ज्ञान) अटक रहा है, वह योग्यता की कचाई के कारण है और ज्ञानी की अपेक्षा ज्ञान में अधिक प्रेम रखते हो उसके कारण है। ज्ञानी के पास से ज्ञान की इच्छा करने की अपेक्षा बोध स्वरूप को समझ कर भक्ति की इच्छा करना परम फल है। अधिक क्या कहें ?" (श्रीमद् राजचंद्र द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ६१५)

तू ज्ञान के लिये तरस रहा है और ज्ञानी के विरह की बातें करता है किन्तु ज्ञानी के प्रति भक्ति तो उछलती नहीं है। मात्र बातें करके ज्ञान प्राप्त करना चाहता है किन्तु ज्ञानी के प्रति भक्तिरूप परम प्रेम के बिना ज्ञान शून्य ही है। ज्ञानी के प्रति परम भक्ति हुये बिना ज्ञान यथार्थ परिणमित नहीं होता। वीतरागी देव, गुरु, शास्त्र सम्यक्ज्ञान का कारण है। यदि उन्हें पहिचान कर उनके प्रति अर्पित होना न आया तो राग रहित अपने आत्मा का समर्पण नहीं किया जा सकेगा। जिसे ज्ञानी के प्रति सच्ची भक्ति नहीं है, उसे अपने आत्मा के प्रति सच्ची भक्ति नहीं है।

जितना सांसारिक प्रेम स्त्री, पुत्रादिक के लिये होता है; यदि उससे अधिक उल्लास सच्चे देव, गुरु, धर्म के प्रति न हो तो समझना चाहिये कि उसे भक्ति की जिज्ञासा नहीं है, और भक्ति के बिना ज्ञान नहीं होता। स्मरण रहे कि भक्ति में जो राग है, उसके द्वारा ज्ञान नहीं होता किन्तु ज्ञानी की पहिचान होने पर जो ज्ञान की रुचि और बहुमान होता है, वही ज्ञान का कारण है। इसलिये पहले राग की दिशा बदलनी चाहिये। एक बार हृदय में ऐसा समर्पण भाव करो कि संसार के स्त्री, पुत्र, शरीरादि का चाहे जो हो किन्तु मैं सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के चरणों में अर्पित हो जाऊं। शरीर, स्त्री, पुत्रादि के लिये सारा जीवन बिता दिया तो अब यह भी तो सोचना चाहिये कि मैंने सच्चे देव-गुरु-धर्म के लिये कितना क्या किया है ? हे भाई ! ज्ञान-ज्ञान तो कहते रहते हो किन्तु ज्ञानी के प्रति सच्ची भक्ति नहीं करते। ज्ञानी पुरुष स्वयं साक्षात् ज्ञान है; इसलिये ज्ञान के लिये ज्ञानी की भक्ति करनी चाहिये। यदि ज्ञानी के प्रति भक्ति नहीं है तो फिर ज्ञान की बातें करके क्या करना है ?

सच्चे देव-गुरु-धर्म, मोक्ष के कारणभूत और कुदेवादिक मोक्ष के साक्षात् घातक हैं। जो इस रहस्य को समझ लेता है, उसे सच्चे देव, गुरु, धर्म के प्रति उत्कट भक्ति हुए बिना नहीं रहती। जो अरिहंत का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है, उसका कुदेवादि का राग छूट जाता है और शरीरादि का राग कम होकर वीतराग देव के प्रति भक्ति बढ़ जाती है। अहा ! भवरहित वीतराग देव मेरे भव के नाशक निमित्त हैं। जो ज्ञान परिणमित नहीं होता, वह अपनी ही कचाई है और प्रत्यक्ष ज्ञानी की अपेक्षा ज्ञान में अधिक प्रेम रखने से ही ज्ञान अटक रहा है। ज्ञान के लिये ज्ञानी की भक्ति अनिवार्य है। आत्मा स्वयं चिदानंद ज्ञानस्वरूप है, जब उसकी रुचिरूप कृपा होती है, तब ज्ञान यथार्थ परिणमित होता है, और ऐसे जीव को ज्ञानी के प्रति भक्ति अवश्य होती है।

प्रश्न—देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति तो राग है, और राग को भगवान ने धर्म नहीं कहा। तब फिर भक्ति कैसे की जाये ?

उत्तर—तुझे परिणाम के विवेक की खबर ही कहाँ है ? देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का राग धर्म नहीं है, तो क्या स्त्री, कुटुंब-लक्ष्मी की भक्ति का राग धर्म है ? यह तो पाप है। जहाँ राग है, वहाँ पाप को छोड़कर सत् निमित्तों के प्रति शुभराग होता है। वीतराग होने पर वह शुभराग भी नहीं होता।

जिसे अपने परिणाम का विवेक नहीं है और न जिसे सत्-असत् निमित्त का ही विवेक है, उस जीव के ज्ञान परिणमित नहीं होगा। वीतराग सर्वज्ञदेव ने दिव्यध्वनि में जिस वस्तुस्वरूप को प्रगट किया है, उसी को बतानेवाले जो अन्य ज्ञानी जीव और सत् शास्त्र हैं, उनके प्रति जिसे उत्कट भक्ति नहीं है और जो ज्ञान की इच्छा करता है, उसे ज्ञानी की भक्ति के बिना ज्ञान परिणमित नहीं होता।

१६—तीन प्रकार के ईश्वर

प्रत्येक जीव स्वतंत्र है। विकार करने में भी जीव स्वतंत्र है और परमाणु भी स्वतंत्र हैं। अपने-अपने ऐश्वर्य (शक्ति, सामर्थ्य) को धारण करने के कारण वह ईश्वर हैं। श्रीमद् राजचंद्रजी ने तीन प्रकार के ईश्वर कहे हैं—(१) स्वभावेश्वर अर्थात् प्रत्येक जीव अपने स्वभाव से परिपूर्ण है, इसलिये स्वभावेश्वर है; (२) विभावेश्वर अर्थात् जीव, पर्याय में जो विभाव करता है, वह स्वयं अपनी स्वतंत्र योग्यता होने से वह विभावेश्वर है; (३) जड़ेश्वर अर्थात् प्रत्येक परमाणु स्वतंत्र है। वह एक क्षण भर में अपनी शक्ति से सफेद से काला हो जाता है, एक समय में ही सातवें पाताल से गमन करके चौदह राजु ऊँचे लोक तक पहुँच जाता है—ऐसी उसकी स्वतंत्र शक्ति है। परमाणु अपनी शक्ति से स्वतंत्र परिणमित होते हैं, उसके परिणमन को रोकने के लिये कोई समर्थ नहीं है, इसलिये जड़ भी अपनी शक्ति को धारण करने वाला जड़ेश्वर है।

१७—वीतराग प्रभु वीतरागता के निमित्त हैं

जड़-चेतन समस्त पदार्थों की ऐसी स्वतंत्रता को प्रगट करनेवाले सर्वज्ञ भगवान हैं। जिसे उनकी प्रतीति हो जाती है, उसे अपने शुद्धस्वभाव की ही प्रतीति हो जाती है, और वह जीव सर्वज्ञ भगवान को अपनी शुद्धता में ही निमित्त बनाता है कि हे नाथ! आप ही मेरी शुद्धता के निमित्त हैं। यद्यपि भगवान के लक्ष से शुभराग होता है परंतु भक्तजन राग को गौण करके कहते हैं कि हे नाथ! हम आप की भक्ति में राग नहीं देखते किन्तु आप जैसा शुद्धस्वभाव ही देखते हैं; शुद्धस्वभाव की भावना के बल से शुभविकल्प को तोड़ देने की ताकत है। शुभविकल्प के होने पर भी उस विकल्प

में भगवान को निमित्त न मानकर, वीतरागभाव में आरोपित करके कहते हैं कि हे नाथ! तुम में राग नहीं है और तुम राग को बतानेवाले नहीं किन्तु रागरहित स्वतंत्र स्वभाव को बतानेवाले हो, इसलिये मेरी स्वतंत्रता में ही निमित्त हो। 'समस्त जीव स्वभाव से—अपने से परिपूर्ण है, तू भी सिद्ध के समान परिपूर्ण है, परन्तु तू अपने स्वभाव की सत्ता को भूला हुआ है, इसलिये अशुद्ध है, तू अपने शुद्ध स्वभाव की सत्ता की प्रतीति के द्वारा भगवान हो सकता है।' इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व की परिपूर्ण स्वाधीनता बतानेवाले आप ही हैं; इसलिये स्वभाव का विकास कराने में आप निमित्त हैं। जिसे अपने स्वतंत्र वीतराग शुद्धस्वभाव की प्रतीति और उसके प्रति उत्कट मान उत्पन्न हुआ है, वही जीव भगवान में भी शुद्धता के ही निमित्त का आरोप करता है। वे शुभराग होने पर उसे अपने स्वभाव में स्वीकार नहीं करते, इसलिये भगवान को भी राग के निमित्त के रूप में नहीं मानते। इसमें उपादान-निमित्त का मेल है। उपादान में शुद्धता का बहुमान है, इसलिये प्रस्तुत वस्तु में भी शुद्धता के निमित्त का ही आरोप करता है।

१८—ज्ञानी करुणापूर्वक कहते हैं कि हे प्रभु! पहले तू अपने स्वभाव को स्वीकार कर

ज्ञानीजन क्षणिक अवस्था को गौण करके समस्त आत्माओं को प्रभु के रूप में सम्बोधित करते हैं कि हे प्रभु! यह अमूल्य अवसर प्राप्त हुआ है, और यदि उस समय सत् की पहिचान और उसका बहुमान नहीं किया तो असत् के प्रेम से तेरा आत्मसूर्य अस्त हो जायगा—तेरी ज्ञान शक्ति नष्ट हो जायेगी। हे भाई! सब से पहले तेरे ज्ञानस्वभाव की पहिचान करने को कहा जा रहा है। यदि तुझसे विशेष स्थिरता नहीं हो सकती तो तुझे कहीं त्यागी हो जाने को नहीं कहते। यदि राग सर्वथा दूर नहीं हो सकता तो भी पहले तू अपने पूर्ण स्वभाव को स्वीकार कर। अपने स्वभाव को स्वीकार किये बिना तू किसकी शरण ग्रहण करेगा? राग का त्यागी होने से पूर्व भी तू अपने ज्ञानस्वभाव को पहिचानकर उसी का बहुमान कर। सत् स्वभाव का आदर करते-करते ही तेरी दशा सत् स्वभावरूप हो जायेगी और असत्रूप रागादि दूर हो जायेगा। इसलिये तू किसी भी उपाय से-खूब प्रयत्न करके अपने सत् को समझ।

ज्ञानियों की करुणा तो देखो! ऐसा उपदेश सुनकर जिसे आत्मा की रुचि और बहुमान होता है, उसे ज्ञानी के प्रति भक्ति का उल्लास हुए बिना कैसे रह सकता है? ज्ञानी की भक्ति में राग की मुख्यता नहीं समझनी चाहिये परन्तु उसके पीछे अपने शुद्धात्मा की रुचि और बहुमान बढ़ता है, उसी की मुख्यता है। उसी से लाभ होता है; राग से लाभ नहीं होता। जो इस प्रकार विवेकपूर्वक

भक्ति करता है, वही सच्चा भक्त है।

१९—जिन प्रतिमा की भक्ति

स्मरण रहे कि जिसे आत्मा की परवाह नहीं है, उसे देव-गुरु-धर्म की भक्ति नहीं होती और वह संसार की रुचि में लीन रहता है, वह दुर्गति में जानेवाला है। सत् का आदर किये बिना अचेत भाव से जो असाध्य मरण होता है, वह नरक-निगोद का कारण है। भगवान की भक्ति के बिना भव का निवारण नहीं होगा। साक्षात् भगवान और वीतराग मुनियों एवं उनकी प्रतिमाओं की पूजा, वंदना, भक्ति, प्रभावना, महोत्सव इत्यादि अनादिकाल से देवेन्द्र और चक्रवर्ती भी करते आये हैं, इसका जो निषेध करता है, वह मिथ्यादृष्टि है, उन्हें देव-गुरु-धर्म की किंचित्मात्र भक्ति नहीं होती। हे नाथ! यदि तेरे चरणों की भक्ति न होती तो इस जगत के जीवों का जन्म-मरण से उद्धार क्यों कर होता?

यदि कोई ऐसा मान ले कि 'समयसार की बात तो बहुत सरल है, क्योंकि उसमें शुद्धात्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ करने की बात ही नहीं है; तो वह यथार्थ तत्त्व को समझ ही नहीं पाया। अरे भाई! जिसे शुद्धात्मा की समझ और उसकी महिमा ज्ञात होती है, उसे वीतराग की भक्ति स्फुरित हुये बिना रह ही नहीं सकती। शुद्धात्मा की महिमावाला जीव जहाँ-जहाँ शुद्धात्मा को निहारता है, वहाँ उसे अंतरंग से अवश्यमेव उल्लास होता है।

पंडित बनारसीदासजी ने कहा है कि—''**जिन प्रतिमा जिन सारखी, नमैं बनारसि ताहि**'' भक्ति के उल्लसित होने पर कहते हैं कि जिन प्रतिमा जिनेन्द्रदेव के समान ही है। हे जिन प्रतिमा! तुझ में एक मात्र वाणी ही नहीं है, वैसे तेरे स्थिर, शांत, वीतराग मुद्रा जिनेन्द्र भगवान की ही भाँति आत्मस्वभाव को दरसा रही है। साक्षात् जिनेन्द्र भगवान भी आत्मा को कहीं हाथ में लेकर नहीं दिखा देते, तू भी वीतरागभाव को ही दिखा रही है। इस प्रकार प्रतिमा के प्रति भक्ति उल्लसित होती है। जिसे जिनदेव की महिमा ज्ञात नहीं है और वीतरागभाव की जिसे रुचि नहीं है, उसे ऐसी उत्कट भक्ति कदापि नहीं हो सकती।

२०—वीतराग की स्तुति करनेवाले का विवेक

हे नाथ! आपकी स्तुति के बिना जन्म-मरण का नाश नहीं होता। जो आप को पहिचान कर आप की स्तुति करता है, वह वीतरागभाव की ही स्तुति करता है, इसलिये वह राग का आदर नहीं करता। इस प्रकार जो वीतरागभाव और रागभाव के बीच भेद करके वीतरागभाव का आदर करता

है, वह क्रमशः राग को दूर करके अवश्यमेव वीतराग हो जायेगा। हे नाथ! यह आपकी ही भक्ति का प्रभाव है, इसलिये इस जगत में आप ही जन्म-मरण को दूर करनेवाले हैं।

जो ऐसा मानते हैं कि 'जितने कंकर हैं, उतने सब शंकर हैं अथवा जितने पत्थर हैं, उतने सब परमेश्वर हैं' वे महा अविवेकी हैं। हे देव! आपको छोड़कर जो दूसरे को देव के रूप में मानता है, वह महा मूढ़ अविवेकी हैं। स्त्री और माता के बीच विवेकपूर्वक भेद करता है किन्तु सच्चे देव और कुदेव के बीच भेद नहीं करता-यह कितनी मूर्खता है? हे प्रभु! तुझे छोड़कर कुदेवादि को मानना अनंत संसार का कारण है।

२१—भक्त जीव, धन वैभव नहीं चाहता

धर्म, धर्मात्मा से शोभायमान होता है; धन से नहीं; इसलिये ज्ञानी को धन का अहंकार नहीं होता। धर्म धर्मात्मा पर अवलंबित है, धन पर नहीं। इसलिये धर्म में धर्मात्मा का आदर है। जो धर्मात्मा होते हैं, वे अरबपति होने पर भी स्तुति करते हुये कहते हैं कि हे नाथ! पूर्णानंद प्रभु! हम आपके दास हैं, हम आपकी भक्ति कैसे करे? यदि हम अपना सर्वस्व समर्पित कर दें तो भी आप की चरण रज की बराबरी नहीं कर सकते। हम क्या कर सकने योग्य हैं? हम तो मात्र आप की भक्ति ही चाहते हैं। आप की भक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ-धन, वैभव इत्यादि नहीं चाहते। इस जगत में आप की भक्ति के प्रताप से हमारे जन्म-मरण का नाश हो जायेगा, इसलिये हम एक मात्र आप की भक्ति ही चाहते हैं।

२२—भक्ति की भावना में ज्ञानी और अज्ञानी के बीच का अंतर

स्मरण रहे कि यह समझ और पहिचानपूर्वक की भक्ति है; इसमें मात्र शुभराग नहीं समझना चाहिये, किन्तु पहिचान और शुद्धस्वभाव की जो रुचि है, वही लाभ का कारण है। 'आप की भक्ति के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं चाहते' इसका क्या अर्थ है? क्या इसमें भक्ति के शुभराग की इच्छा है? नहीं, शुभराग की इच्छा नहीं है। किन्तु 'भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते', इसका यह अर्थ है कि अब हमारे अशुभराग तो कदापि न हो, और यह जो शुभराग है, वह अधिक समय तक नहीं रह सकेगा; इस प्रकार अब शुद्धात्मा की प्राप्ति हो जायेगी—इसमें यही भावना है। अज्ञानी को शुद्धता की खबर नहीं है और वह मात्र शुभराग के द्वारा लाभ मानता है; उसे सच्ची भक्ति नहीं होती।

२३—वीतराग के भक्तों को स्वर्ग-मोक्ष का संगम

वीर संवत् २४७१ के वैशाख कृष्णा-अष्टमी के दिन श्री जैन स्वाध्याय मंदिर (सुवर्णपुरी)

को श्रीमंत सर शेठ हुकुमचंदजी के शुभ हस्त से (श्री नानालालभाई जसाणी की ओर से) चाँदी का समयसार समर्पित किया गया था। जब सेठजी के हाथों में श्री समयसारजी का रजत-पत्र आया, तब वे शास्त्र भक्ति से उल्लसित होकर बोल उठे कि—"धन्य सरस्वती माता! आप मेरा शिरच्छत्र हो।" यह कहकर उन्होंने भक्तिपूर्वक उस रजतपत्र को अपने मस्तक पर चढ़ाया।

भगवान ऋषभदेव की भक्ति करते हुये महान संत मुनियों ने कहा है कि हे नाथ! आप के भक्त आप को नमस्कार करते हुये दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर चढ़ाते हैं, इससे हम यह समझते हैं कि उन्हें दो उच्च दशाओं का संगम होने वाला है। हे नाथ! आप के भक्तों को स्वर्ग और मोक्ष का संगम होता है। हे प्रभो! आपकी भक्ति करने से जो शुभराग होता है, उसके द्वारा उच्च पुण्यबंध होता है, जिससे उच्च देवगति का एकाध भव होता है, और आपकी भक्ति करने से जो वीतरागता की पहिचान और बहुमान होता है, वह अल्पकाल में ही मोक्ष लाभ कराता है। इस प्रकार आपके भक्तों को स्वर्ग-मोक्ष का संगम होता है। किन्तु जो कुदेवादि को मानते हैं, वे वीतराग का अनादर करनेवाले हैं; उन्हें नरक और निगोद-दोनों का संगम होता है।

२४—भक्त की नम्रता

मैं बहुत बड़ा राजा हूँ, तब फिर मैं भगवान के समक्ष नत मस्तक क्यों होऊँ? अथवा मैं स्वयं पूजादि कार्य क्यों करूँ? भक्तों को देव-गुरु-शास्त्र के समक्ष ऐसा अभिमान कैसे हो सकता है? अरे भाई! तू जड़ वस्तुओं का ही तो राजा है, जो कि केवल धूल-मिट्टी के समान हैं। भगवान के समक्ष तो तू दासानुदास ही है, दीन है भिखारी है। बड़े-बड़े महाराजा भी भक्तिपूर्वक कहते हैं कि—हे नाथ! मैं आपका पामर दास हूँ, जहाँ-जहाँ आपके चरणों का संचार हुआ है, वहाँ की धूल मेरे मस्तक पर चढ़े तो मैं अपने को धन्य मानता हूँ। विपुल वैभवशाली राजाधिराज कहते हैं कि हे जिनदेव, हे तारणहार, हे केवलज्ञान लक्ष्मी के स्वामी! हम आपको क्या दें! लक्ष्मीवान तो आप ही हैं, और हम तो अति दीन हैं। महा वीर्यवान शार्दूल-सिंहो का समूह भी भगवान के प्रति भक्ति पूर्वक हाथ (आगे के दो पैर) जोड़कर नमस्कार करके उठते हैं।

देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति के प्रसंग पर भक्त के हृदय में भक्ति छलकने लगती है। वह शास्त्र के प्रति बहुमान प्रदर्शित करता हुआ कहता है कि —धन्य, धन्य अवतार, धन्य सरस्वती (जिनवाणी) देवी! आप मेरी शिरच्छत्र हैं, ज्ञान भंडार हैं; मेरे सम्यक् ज्ञान की दाता आप ही हैं; आपको मेरा सर्वस्व समर्पित है।

२५ — भक्तों का विश्वास

हे भगवान ! भक्तजन दोनों हाथ जोड़कर आप को नमस्कार करते हैं; इसलिये उन्हें स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति होती है। भगवान के भक्त पूर्ण विश्वासी होते हैं। जिस के मन में ऐसी शंकाऐं उठा करती हैं कि "मेरा क्या होगा, यदि मुझे अनंत भव करना पड़े तो क्या होगा ?" वह भवरहित भगवान की क्या भक्ति करेगा ? भगवान के भक्तों में नि:शंकता होती है कि—"अब जब कि हमने वीतरागभाव का ही आदर और श्रद्धा की है, तब हमारे लिये नरक और तिर्यंच गतियों के द्वार तो सदा के लिये बंद हो चुका है—इन दो गतियों में हमें कदापि नहीं जाना होगा। और यदि कोई भव

सम्यक्त्वाराधना

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का यथावत् निश्चय और आत्मा में उनका वास्तविक प्रतिभास होना ही सम्यग्दर्शन है। पंडित और बुद्धिमान् मुमुक्षु को मोक्षस्वरूप परम सुखस्थान में निर्विघ्न पहुँचाने के लिये यह प्रथम सीढ़ी के समान है। ज्ञान, चारित्र और तप तीनों सम्यक्त्वसहित हों, तब ही वे मोक्ष के लिये सफल हैं, वंदनीय हैं, कार्यकर हैं; अन्यथा वही (ज्ञान, चारित्र और तप) संसार के कारणरूप में परिणमित होते जाते हैं। संक्षेप में सम्यक्त्व रहित ज्ञान ही अज्ञान है; सम्यक्त्व रहित चारित्र ही कषाय है और सम्यक्त्व रहित तप ही काय क्लेश है। ज्ञान, चारित्र और तप इन तीन गुणों को उज्ज्वल करनेवाली सम्यक्श्रद्धा प्रथम आराधना है। शेष तीन आराधनाऐं एक सम्यक्त्व के अस्तित्व में ही आराधक भाव से विद्यमान हैं। इस प्रकार सम्यक्त्व की अकथनीय और अपूर्व महिमा को जानकर उस पवित्र कल्याण मूर्तिरूप सम्यग्दर्शन को इस अनंतानंत दु:खरूप अनादि संसार की आत्यंतिक निवृत्ति के लिये, हे भव्य जीवों ! भक्तिपूर्वक अंगीकार करो। प्रति समय उसकी आराधना करो। *(आत्मानुशासन, पृष्ठ ९)*

चार आराधनाओं में सम्यक्त्व आराधना को सर्व प्रथम कहने का कारण क्या है ? शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर देते हुये आचार्य कहते हैं कि—

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्यैव गौरवं पुष:।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्व संयुक्तम् ॥१५॥

आत्मा के मंद कषायरूप उपशमभाव, शास्त्राभ्यासरूप ज्ञान, पाप के त्यागरूप चारित्र और अनशनादिरूप तप का जो माहात्म्य है, वह सम्यक्त्व के बिना मात्र पाषाणभार के समान है, आत्मा के लिये फलदायी नहीं है। यदि वही सामग्री सम्यक्त्वसहित हो तो महा मणि के समान आदरणीय हो जाती है अर्थात् वह वास्तविक फलदायी और उत्कृष्ट महिमा के योग्य हो जाती है।

पाषाण और मणि दोनों एक ही-पत्थर की जाति के हैं अर्थात् जाति की अपेक्षा से दोनों एक ही हैं, तथापि शोभा और चमक आदि की विशेषता को लेकर मणि का अल्प भार होने पर भी उसे ग्रहण करने से अधिक महिमा को प्राप्त होता है किन्तु पाषाण का अति भार मात्र उसके उठाने वाले को कष्ट रूप ही होता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व क्रिया और सम्यक्त्व क्रिया दोनों ही क्रिया की अपेक्षा से तो एक ही हैं, तथापि अभिप्राय के सत्-असत् को लेकर तथा वस्तु की प्रतीति और अप्रतीति के कारण को लेकर मिथ्यात्वसहित क्रिया के बहु भार को वहन करके भी वास्तविक महिमा और आत्मलाभ को प्राप्त नहीं होता किन्तु सम्यक्त्वसहित अल्प क्रिया भी यथार्थ आत्म लाभदायी और अति महिमा के योग्य होती है। *(आत्मानुशासन, पृष्ठ ११)*

कौन सा ज्ञान मोक्ष का कारण होता है ?

[श्री समयसार-मोक्ष अधिकार के प्रवचन से]

शिष्य पूछता है कि इस आत्मा को प्रज्ञा के द्वारा क्यों कर ग्रहण करना चाहिये ? उसका समाधान करते हुये कहते हैं कि:—

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा जे मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९७॥

अर्थ:—प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को यों ग्रहण करना चाहिये कि जो चेतनवान ज्ञाता है, निश्चय से वही मैं हूँ, शेष जो भाव हैं, वे सब मुझ से पर हैं।

जो चेतकस्वभाव है, वही मैं हूँ; पुण्य-पाप के भाव, चेतकस्वभाव से भिन्न हैं, वे मेरी पर्याय का स्वरूप नहीं हैं। जो पुण्य-पाप की भावना होती है, वह सब बंध का कार्य करती है, स्वभाव की एकता का कार्य नहीं करती; इसलिये उन समस्त भावनाओं से भिन्न चेतकस्वभाववान

मैं ही हूँ। इस प्रकार स्वभाव और बंधभाव के पृथक्त्व को और बंधभाव को भिन्न जाने बिना स्वभाव का ग्रहण और बंधभाव का त्याग कैसे हो सकता है? इसलिये पहले प्रज्ञा के द्वारा आत्मस्वभाव और बंधभाव को भिन्नरूप जानने के बाद उसी प्रज्ञा के द्वारा चेतकस्वभाववान आत्मा का ग्रहण करना चाहिये।

शुद्ध चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख होने से ज्ञानी जानता है कि वास्तव में मैं ज्ञाता ही हूँ और पाप की समस्त भावनायें मुझ से अत्यंत भिन्न हैं। आत्मा का अनुभव करते समय ऐसा विकल्प नहीं होता कि 'यह पुण्य-पाप मैं नहीं हूँ'; परन्तु जीव जब स्वभाव के अनुभव की ओर जाता है, तब पुण्य-पाप की भावनाओं का लक्ष छूट जाता है। इस प्रकार ज्ञानी ऐसा अनुभव करते हैं कि 'पुण्य-पाप मुझ से अत्यन्त भिन्न हैं।'

पर पदार्थों के और सात तत्त्वों के विचार से मुक्त होकर स्वभावोन्मुख होने से पूर्व आत्मा संबंधी जो विकल्प आते हैं, वह भी राग है, उसके द्वारा आत्मा का ग्रहण नहीं होता। पंचास्तिकाय में व्यवहाररत्नत्रय संबंधी अधिकार में कहा है कि जब शिष्य प्रथम ज्ञान मार्ग में होता है, तब विकल्पपूर्वक निज को निजरूप में और पर को पररूप में ज्ञान में लेता है; उसमें जो विकल्प है, वह राग है और वह राग, बंध का ही लक्षण है; किन्तु जिस ज्ञान के द्वारा जानता है, वह ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, वह ज्ञान सम्यक्ज्ञान का कारण है। किन्तु अभेद के लक्ष्य के बिना जो मात्र भेदवाले ज्ञान को ही अभेद का कारण मानकर अभेद में मिलाना चाहे तो वह निश्चय-व्यवहार के स्वरूप को नहीं समझा। अभेद के लक्ष्यपूर्वक जो रागमिश्रित ज्ञान होता है, उस को व्यवहार कहा है। पहले रागमिश्रित ज्ञान के द्वारा स्वभाव को ख्याल में लेकर जीव ज्ञान में आगे बढ़ता है, वहाँ ज्ञान के साथ का राग छूटता जाता है और ज्ञान स्वोन्मुख होता जाता है। रागमिश्रित ज्ञान के द्वारा स्वभाव को ख्याल में लेने के बाद जो जीव, ज्ञान को बढ़ाता है और राग को नहीं बढ़ाता, उसके विकल्प दूर होकर ज्ञान की स्वीकृति बनी रहती है। विकल्प के दूर हो जाने से कहीं ज्ञान चला नहीं जाता। ज्ञान स्वभाव है और राग मेरा स्वभाव नहीं है, इसे यदि प्रथम अभ्यास से जान ले तो ज्ञान को बढ़ाकर स्वभावोन्मुख करके सम्यक्दर्शन को प्रगट कर सकता है।

आचार्यदेव ने पहले से ही विकल्प और ज्ञान की भिन्नता को बताया है। सम्यक्दर्शन के प्रगट होने से पूर्व ऐसा विकल्प होता है कि 'मैं चैतन्य स्वभाववान हूँ; तब जो विकल्प होता है, वह तो राग है, जो कि त्याज्य है, परन्तु उस समय जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान त्याज्य नहीं है, क्योंकि वह

ज्ञान तो अपने में मिल जाता है। परन्तु उस ज्ञान को सम्यक् ज्ञान का कारण तब कहा जा सकता है जब कि अभेद आत्मस्वभाव का यथार्थ निर्णय करके उस निर्णय के बल से स्वभावोन्मुख होकर राग के विकल्प को नष्ट कर दे। विकल्पसहित जाने किन्तु यदि अभेद स्वभाव का निर्णय करके विकल्प से अधिक न हो तो वैसा ज्ञान अनंत बार चला गया अर्थात् जो ज्ञान अभेद स्वभाव का निर्णय नहीं करता और राग में ही अटक जाय वह ज्ञान नाशवान है, और जो ज्ञान, राग से हटकर अभेद स्वभाव की ओर जाता है, वह ज्ञान आत्मा के साथ अभिन्न होने से अविनाशी है।

पंचास्तिकाय में कहा है कि प्रथम विकल्पसहित जो ज्ञान जानता है, उसे व्यवहार ज्ञान कहते हैं। विकल्प से छूटकर सम्यक्दर्शनादि प्रगट करना, वह निश्चय मार्ग है। यदि स्वभाव के लक्ष से 'शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ'—ऐसा निर्णय करके सम्यक्दर्शन प्रगट किया तो पहले जिस ज्ञान ने सविकल्प निर्णय किया था, उस ज्ञान का निर्णय ज्यों का त्यों बना रहा है, मात्र विकल्प का नाश हुआ है। जिस ज्ञान का निर्णय नष्ट नहीं होता, उस ज्ञान को हेय कैसे कहा जा सकता है ? यहाँ पर कौन सी अपेक्षा से बात की जा रही है, यह समझना चाहिये। यहाँ मात्र विकल्पवाले ज्ञान की बात नहीं है; क्योंकि ऐसा ज्ञान तो अभव्य भी प्राप्त कर लेता है, परन्तु जो जीव, विकल्पसहित निर्णय करके अभेद की ओर झुकता है, उस जीव को पहले निर्णय करनेवाला ज्ञान, मोक्षमार्ग का साधन कहा जाता है। यहाँ जो ज्ञानस्वभाव की ओर झुकता है, वह ज्ञान, निश्चय और जो स्वभाव की ओर झुकने से पूर्व विकल्पसहित स्वभाव का निर्णय करनेवाला ज्ञान है, सो व्यवहार है। यदि स्वभाव की ओर झुककर निश्चय प्रगट करे तो पहले के ज्ञान को व्यवहार कहते हैं। स्वभावसन्मुख होने पर पहले तो विकल्प का ज्ञान होता है किन्तु यदि विकल्प को तोड़कर वह ज्ञान अंतर स्वभावसन्मुख हो और सम्यक्ज्ञानरूप परिणमित हो तो वह ज्ञान नित्य स्थिर कहलाता है। जिस ज्ञान ने विकल्प -सहित निर्णय किया है, वह ज्ञान, विकल्प को तोड़कर स्वोन्मुख हो ही जायगा; इस प्रकार की शैली से यहाँ कथन किया गया है। किन्तु जो यह मानता है कि विकल्प करते-करते ज्ञान सम्यक्रूप में परिणमित हो जायगा, उसकी दृष्टि विकल्प में ही अटक रही है; इसलिये उसे सम्यक्ज्ञान नहीं होता।

नवतत्त्वों की श्रद्धा, विकल्पसहित ज्ञान और पंच महाव्रत की वृत्ति-इस प्रकार व्यवहार सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ज्ञान तो पहले ही आ जाता है, वह व्यवहार है; उसमें जितना राग है, वह हेय है किन्तु जो ज्ञान है, वह हेय नहीं है-यह कब कहा जाता है ? यदि वह ज्ञान स्थिर रहकर

अभेद की श्रद्धा करे तो वह हेय नहीं है। किन्तु यदि अभेद की श्रद्धा न करे तो उस ज्ञान में सम्यक्ज्ञान रूप होने की शक्ति नहीं और इसलिये वह ज्ञान, आत्मा के लिये लाभ का कारण नहीं होता।

जैसे केवली भगवान को पूर्व के समस्त विकल्पों का ज्ञान होता है—विकल्पों के छूट जाने पर भी उसका ज्ञान नहीं छूट जाता, उसी प्रकार स्वरूपोन्मुख होते हुए पहले जो विकल्प होते हैं, वे विकल्प सम्यक्ज्ञान होने पर छूट जाते हैं, किन्तु ज्ञान के द्वारा किये गये यथार्थ निर्णय की स्वीकृति तो बनी ही रहती है। क्योंकि यदि ज्ञान का निर्णय भी छूट जाय तो पर्याय का ही नाश हो जाय। द्रव्य-गुण और प्रगट ज्ञानपर्याय मिलकर वस्तु कहलाती है।

निज शुद्धात्मा की श्रद्धा किये बिना यदि कोई जीव ग्यारह अंग का पाठी हो जाय तो भी उसका ज्ञान स्थिर नहीं कहा जा सकता; प्रत्युत वह ज्ञान विनाशीक है; स्वभाव की श्रद्धा से रहित ग्यारह अंग का ज्ञान भी क्षणिक बोध है। शास्त्रों का विशेष ज्ञान न होने पर भी, यदि स्वभाव की श्रद्धा करके ज्ञान स्वोन्मुख होता है तो वह ज्ञान स्थिर कहलाता है। जिस ज्ञान का अभेदत्व आत्मा के साथ होता है, वह ज्ञान अविनाशी है। यद्यपि वह ज्ञानपर्याय तो एक समयमात्र के लिये ही है परन्तु उस ज्ञान का परिणमन क्रमशः बढ़कर केवलज्ञानरूप होता है, इस अपेक्षा से उस ज्ञान को अविनाशी कहा जाता है। जो ज्ञान, राग में जम जाता है, वह विनाशी है और जो स्वभाव में जम जाता है, वह अविनाशी है।

भूतकाल की विकारी पर्याय का ख्याल यदि वर्तमान ज्ञान में हो तो वह हानि का कारण नहीं है, क्योंकि विकार का विकार के रूप में जो ज्ञान किया है, वह तो ज्ञान का कार्य है, और ज्ञान का कार्य हानि का कारण नहीं होता।

प्रज्ञा के द्वारा ही आत्मा को ग्रहण करना कहा है और शेष समस्त भावों को आत्मा से भिन्न जानने को कहा है। 'जो चेतक है सो ही मैं हूँ'—इसमें विकल्प भी है और ज्ञान भी है। इसमें जो ज्ञान है, सो चेतकस्वभाव की ओर झुकनेवाला है। चेतकस्वभाव की अभेदरूप में श्रद्धा करने पर उस श्रद्धा के बल से उस ज्ञान का निर्णय पर्याय में बना रहेगा और विकल्प छूट जायगा। निश्चय स्वभाव का लक्ष करनेवाले जीव के निश्चय-व्यवहार किस प्रकार होता है-यह इसमें आ जाता है। यथार्थ स्वभाव का जो स्वद्रव्याश्रित ज्ञान है, सो निश्चय है और स्वभाव का लक्ष करते हुए जो विकल्प उठता है, सो व्यवहार है।

आत्मा तो ज्ञान है, वह ज्ञान ही करता रहता है। आत्मा कब ज्ञान नहीं करता? अज्ञानदशा में शुभाशुभभाव करते समय भी ज्ञान को तो करता ही है, किन्तु वह ज्ञानदशा कब टिकती है अथवा वह ज्ञान, मोक्ष का कारण कब होता है? यदि राग के अवलम्बन को तोड़कर अभेद स्वभाव की श्रद्धा करके उसके अवलम्बन से ज्ञान करे तो वह ज्ञान निज में मिलकर अभेदरूप हो जाता है और वह मोक्ष का कारण होता है। किन्तु जो ज्ञान परलक्ष में रुक जाता है और स्वोन्मुख नहीं होता, वह ज्ञानमोक्ष का कारण नहीं होता।

इस गाथा में पहले छह कारक के भेद से बात कही है और फिर छह कारक के भेद का निषेध करके बात कही है। 'मैं चेतक हूँ, अपने द्वारा ही चेतित हूँ' इत्यादि छह कारक के भेद के विचार से अथवा 'मुझ में छह कारक का भेद नहीं है–मैं मात्र एक चेतक ही हूँ' इस प्रकार का जो विचार है, सो दोनों राग हैं। इस प्रकार अभी ज्ञान में भेद होता है। यदि अभेद स्वभाव में निर्विकल्प रूप से स्थिर हो जाय तो वैसे भेद का विचार नहीं होगा किन्तु अभेद का ही अनुभव होगा। यदि चैतन्यस्वभाव का निर्णय किया ही न हो तो उसे भी ऐसे स्वभाव की ओर झुकने का विचार नहीं होता; जिसने चैतन्यस्वभाव को निर्णय में तो लिया है किन्तु अभी विकल्प को तोड़कर उसमें एकाग्र नहीं हुआ—ऐसे जीव को साधकदशा में ऐसा विकल्परूप व्यवहार आता है।

पहले विकल्पसहित ज्ञान से निर्णय करने के बाद, स्वभावोन्मुख होने पर वह विकल्प छूट जाता है। पहले स्वभावोन्मुख होने पर सूक्ष्म राग रह जाता है, वहाँ पर संबंधी विचार का स्थूलराग तो छूट गया है किन्तु निज में भेद के विचार का राग विद्यमान है, वह राग स्वयं स्वभावोन्मुख होने का कार्य नहीं करता परन्तु उस राग के समय जो ज्ञान है, वह ज्ञान स्वयं स्वभावोन्मुख होता है। अभेद स्वभाव का अनुभव और श्रद्धा करने पर वह ज्ञान, चैतन्य में व्याप्त हो जायगा और विकल्प का राग दूर हो जायगा। इसमें ज्ञान विस्तृत हुआ है। पहले भेद का विचार सीढ़ी के रूप में आता है किन्तु जहाँ अभेद के बल से विकल्प तोड़ा कि वहाँ ज्ञान अभेद चैतन्य में व्याप्त हो जाता है। उस ज्ञान के साथ का विकल्प दूर हो गया किन्तु विकल्प का ज्ञान दूर नहीं हुआ। क्योंकि ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है। विकल्परूप व्यवहार का ज्ञान करना दोष का कारण नहीं है, किन्तु जो विकल्प आता है, वह चारित्र का दोष है, और यदि उस विकल्प को अभेद स्वभाव में उन्मुख होने का साधन माने तो श्रद्धा का दोष है। ज्ञान तो अपना स्वभाव है; इसलिये उसका अंगीकार दूसरी पर्याय में भी बना रहता है, और राग, स्वभाव का साधन नहीं है, इसलिये स्वाभावोन्मुख होने पर वह छूट जाता है।

'मैं चैतन्य हूँ'—ऐसी जो भेद की वृत्ति उठती है, वह मैं नहीं हूँ, ऐसा प्रज्ञा के द्वारा निश्चित कर लिया, पश्चात् चैतन्यस्वभावोन्मुख होने पर भेद की वृत्ति उठती है, उसे तोड़कर अंतरंग में स्थिर होने की यह बात है।

आत्मा को पर से भिन्न शुद्धस्वभावरूप किस प्रकार जानना चाहिये? इसके उत्तर में कहते हैं कि प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को पर से भिन्नरूप जानना चाहिये। प्रज्ञा के द्वारा ही आत्मा और बंध को अलग किया जाता है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि आत्मा को प्रज्ञा के द्वारा पर से भिन्न तो जाना परंतु आत्मा को ग्रहण किस प्रकार करना चाहिये? और आत्मा में लीन किस प्रकार होना चाहिये? उसका समाधान इस गाथा में किया गया है—'मैं आत्मा में लीन होऊँ'-ऐसे विकल्प के द्वारा आत्मा में लीनता नहीं होती किन्तु प्रज्ञा द्वारा ही (स्वभावोन्मुख होने पर ज्ञान से ही) लीनता होती है। पहले जो भेद के विकल्प होते हैं, उन्हें साधन कहना, सो व्यवहार है; किन्तु वास्तव में उस विकल्प को छोड़कर जब स्वभावोन्मुख हो, तब उसे व्यवहार कहा जाता है, अर्थात् विकल्प तो जानने के लिये है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप का प्रज्ञा के द्वारा ज्ञान और उसी में प्रज्ञा के द्वारा लीनता करने से मोक्ष होता है, देहादि जड़ की क्रिया से अथवा व्रतादि के विकल्प से मोक्ष नहीं होता। 卐

यदि आपको स्वाध्याय के लिये जरूरत हो और अब तक आपने न बुलवाया हो तो स्व. पं. दीपचंदजी कासलीवाल कृत 'अनुभवप्रकाश' ग्रंथ तुरन्त मंगवा लें।

श्री सनातन जैन शिक्षा वर्ग-सोनगढ़

["सम्यग्दृष्टि जीव नरक में भी सुखी है और मिथ्यादृष्टि जीव स्वर्ग में भी दुःखी है" इस विषय पर निबंध लिखने के लिये वढ़वान निवासी श्री मगनलाल तलकशी की ओर से सूचना आई थी, और इस विषय पर सर्वोत्तम निबंध लिखने वाले विद्यार्थी को १०) की पुस्तकें पारितोषक रूप में देने का निश्चय किया गया था; तदनुसार उन्तीस विद्यार्थियों ने निबंध लिखा था; उनमें से राजकोट निवासी श्री बिपिनचन्द्र लाभशंकर महेता को प्रथम पारितोषक दिया गया था। यहाँ पर प्रथम और द्वितीय निबंध दिया जा रहा है।]

—निबंध— [१]

विषय—सम्यग्दृष्टि नरक में रहता हुआ भी सुखी है और मिथ्यादृष्टि देवलोक में रहता हुआ भी दु:खी है।

दु:ख का अर्थ क्या है? दु:ख का अर्थ है ममता। दु:ख किसी क्षेत्र में नहीं किन्तु आत्मस्वभाव को भूलकर पर में रुचि और ममता करनी, वह है। नवमें ग्रैवेयक का देव हो परन्तु वह सम्यग्दृष्टि न होने से दु:खी है; उसे पर के ऊपर रुचि और ममता है; तब नरक के सम्यक्त्वी की पर से रुचि हट गई है। उसे विश्वास है कि वह दो-तीन भव के पश्चात् अलौकिक और अपूर्व आनंद स्वरूप केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करेगा। उदाहरण के रूप में यदि किसी कैदी से यह कहा जाय कि तुझे एक वर्ष के बाद राजा बना देंगे और राजा से कैदी होने को कहा जाय तो उनमें से कैदी को कैदी रहते हुये भी सुख होगा क्योंकि वह जानता है कि उसे एक वर्ष बाद सुख मिलेगा, इसलिये उसे अपना एक वर्ष समाप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती और राजा होते हुये भी वह एक वर्ष घोर दु:ख में व्यतीत करता है; क्योंकि उसे यही विचार उठता रहता है कि एक वर्ष बाद मैं कैदी होनेवाला हूँ। इसी प्रकार कैदी को नरक का सम्यग्दृष्टि और राजा को मिथ्यादृष्टि देव समान समझना चाहिये।

नरक के सम्यक्त्वी के अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व का क्षय, क्षयोपशम, और उपशम होता है। बाहर के अनन्त प्रतिकूल संयोग होने पर भी, अंतरंग में कषाय का अभाव होता है, उसके अंतरंग में समाधि विद्यमान होती है। सुख और दु:ख इस अंतरंग कषाय के आधीन है, अनुकूल अथवा प्रतिकूल संयोगों के आधीन नहीं है। नवमें ग्रैवेयक के देव को अनेक अनुकूल संयोग होते हैं, तथापि वह अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व की आकुलता से जल-भुनकर दु:खी होता रहता है। यद्यपि वह बाहर से सुखी दिखाई देता है परन्तु वास्तव में तो वह दु:खी ही है; क्योंकि उसके मिथ्यात्व विद्यमान है। बाह्य सुख और दु:ख तो कल्पनामात्र है; वह वास्तविक सुख -दु:ख नहीं है। सुख और दु:ख अंतरंग की आकुलता अथवा निराकुलता के आधीन है। इसलिये मिथ्यादृष्टि देव एकांत से दु:खी है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को ऐसी दृढ़ प्रतीति निरंतर होती है कि मैं स्वयं चिदानन्द, आनन्दकन्द, वीतराग आनन्द, अनेक गुणों के आनन्द से युक्त, निर्मलानन्द, अभेद, अखंड और पृथक् पिंड, अनन्त पर से भिन्न हूँ।

सम्यग्ज्ञानरूपी धारा निरंतर बहती ही रहती है, उसने विश्व के अन्य पदार्थों के स्वाद से भिन्न, अनन्त, अनुपमेय आत्मा के सुखगुण और आनन्दगुण का अंशतः सिद्ध परमात्मा जैसा स्वाद लिया है; इसलिये वह सुखी है।

देव सम्यग्दृष्टि न होने से दुःखी ही है, क्योंकि वह दूसरे देवों का वैभव देखकर जल उठता है। उसकी मन्दार-माला मुरझा जाने से और अन्य आभूषणों का तेज मंद हो जाने से उसे मालूम हो जाता है कि अब अल्प समय में ही मेरा मरण हो जानेवाला है; इसलिये वह अत्यन्त संक्लिष्ट होता है और दुःखी होता है। और इसके अतिरिक्त जब वह अपने अवधिज्ञान से यह जान लेता है कि मेरा जन्म निम्न कोटि में होनेवाला है, तब उसे और भी अधिक दुःख होता है।

[२]

सम्यग्दृष्टि नरक में होने पर भी सुखी है क्योंकि सुख-दुःख का आधार स्थान पर नहीं किन्तु प्रतीति पर (समझ पर) अवलम्बित होता है, स्वर्ग का मिथ्यादृष्टि देव दुःखी होता है। यदि सुख-दुःख स्थान में होता अर्थात् यदि नरक में दुःख ही होता तो, जब जीव केवलसमुद्घात करता है, तब उन केवली भगवान के आत्म-प्रदेश समस्त लोक में फैल जाते हैं, वे नरक में भी फैल जाते हैं ऐसी स्थिति में—केवलीसमुद्घात के समय भगवान अरहंतदेव नरक क्षेत्र में भी अनन्त सुख का भोग करते हैं, तब अज्ञानी नारकी जीव देह और आत्मा का भेद विज्ञान न होने से महा दुःख को भोगते रहते हैं। देखिये! यहाँ दोनों का स्थान तो एक ही है परन्तु आत्मप्रतीति में अन्तर है।

मोक्ष में सिद्धशिला के स्थान में सुख हो, सो बात नहीं है। यदि सिद्धशिला का स्थान ही सुख देनेवाला होता तो उस सिद्धशिला में जो एकेन्द्रिय जीव होते हैं, उन एकेन्द्रियों को भी महान सुख होना चाहिये था, किन्तु ऐसा नहीं है।

स्वर्ग में रहनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव, शरीर और आत्मा को एक मानता है अर्थात् वह शरीर को अपना मानता है; इसलिये देह को अनुकूल पड़नेवाली सामग्री पर उसे रागभाव होता है और प्रतिकूल सामग्री पर द्वेष होता है; इसलिये वह रागी, द्वेषी बना रहता है। वह मिथ्यात्वा का सेवन करता है और मिथ्यात्व ही अनन्त संसार का मूल है तथा अनंत दुःख का कारण है। मिथ्यात्व का फल निगोद है, जिस के फल में दुःख है, उसके कारण में भी दुःख होता है। मिथ्यात्व में अनन्त दुःख है; इसलिये परवस्तु से लाभ माननेवाला और आकुलतायुक्त मिथ्यादृष्टि जीव, मिथ्यात्व के सेवन से प्रतिक्षण अनन्त दुःख भोग रहा है; तब सम्यग्दृष्टि जीव, नरक में होने पर भी महान सुख

का स्वाद ले रहा है। वह जानता है कि सामग्री में सुख या दुःख है ही नहीं, सुख तो आत्मस्वभाव में है; इसलिये वह आकुलता को दूर करके स्वभावदर्शन कर रहा है। वह जानता है कि आत्मप्रतीति से भव का अभाव और अनात्मप्रतीति से भव की वृद्धि होती है। इसलिये उसके अनन्त भवरूप दुःख दूर हो चुका है और उसने सम्यग्दर्शन को प्रगट किया है, इसलिये उसके अनन्तानुबनधी कषाय का अभाव हो गया है। वह स्वभाव में से सुख के लेने का प्रयत्न करता है, इसलिये उसकी विपरीतता दूर हो गई है और वह पर संयोगादि (नरकादि) का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव में स्थिर होकर अनन्त सुख का उपभोग करता है।

अहो! धन्य है ऐसे जीवों को, जिन्होंने चाहे जैसे तुच्छ विषयों में प्रवेश करके आत्मा के वेग को स्वोन्मुख ही कर रखा है।

धार्मिक परीक्षा के प्रश्नोत्तर

प्रश्न-१ (क) अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय की परिभाषा लिखो।

(ख) किन द्रव्यों के त्रिकाल स्वभाव व्यंजन पर्याय होती है?

(ग) प्रदेशों की संख्या की अपेक्षा से कौन कौन द्रव्य समान हैं?

(घ) अरूपी द्रव्य कौन हैं और उनमें जड़ चेतन कौन है?

(ङ) सादि-अनंत स्वभावअर्थपर्याय किसके होती है?

उत्तर—१ (क) अर्थपर्याय-प्रदेशत्वगुण के अतिरिक्त अन्य समस्त गुणों के परिवर्तन (परिणमन) को अर्थपर्याय कहते हैं।

(ख) व्यंजनपर्याय-प्रदेशत्वगुण के परिणमन को व्यंजनपर्याय कहते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों के त्रिकाल स्वभावव्यंजनपर्याय होती है।

(ग) जीव, धर्म और अधर्म इन तीन द्रव्यों के असंख्यात प्रदेश सदृश हैं; काल और पुद्गल ये दोनों द्रव्य एक प्रदेशी हैं।

(घ) जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच द्रव्य अरूपी हैं; उनमें जीव द्रव्य चेतन है और बाकी के सब जड़ हैं।

(ङ) सिद्धों के सादि-अनंत स्वभावअर्थपर्याय होती है।

प्रश्न—२ (क) अंतरात्मा, निकल परमात्मा, और सकल परमात्मा के द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म में से क्या-क्या होता है ?

(ख) बहिरात्मा तथा अंतरात्मा का स्वरूप लिखो, उनमें यदि किसी के भेद हों तो वे भी लिखो और उनका स्वरूप समझाओ।

उत्तर—२ (क) अंतरात्मा के द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म तीनों होते हैं, निकल परमात्मा के द्रव्यकर्म-भावकर्म अथवा नोकर्म कोई भी नहीं होते और सकल परमात्मा के चार अघातिया द्रव्यकर्म तथा नोकर्म होते हैं, भावकर्म नहीं होते।

(ख) बहिरात्मा-बाह्य से आत्मा की पहिचान करनेवाला जिसके भेदविज्ञान नहीं है और जो शरीर तथा आत्मा को एक मानता है, उसे अविवेकी अथवा मिथ्यादृष्टि कहा जाता है, वह बहिरात्मा है, उसके उपभेद नहीं हैं।

अंतरात्मा-जो अंतरंग में भेदविज्ञान से शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न जानता है अर्थात् आत्मा को परद्रव्यों से भिन्न जानता है, वह अंतरात्मा है।

अंतरात्मा के तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य।

उत्तम अंतरात्मा-अंतरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित, सातवें से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यंत रहनेवाले शुद्धोपयोगी अध्यात्मयोगी दिगम्बर मुनि को उत्तम अंतरात्मा कहते हैं।

मध्यम अंतरात्मा-गृहादि रहित छट्ठे गुणस्थानवर्ती शुभोपयोगी दिगंबर मुनि को एवं व्रतधारी पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक को मध्यम अंतरात्मा कहते हैं।

जघन्य अंतरात्मा-चतुर्थ गुणस्थानवर्ती व्रतरहित सम्यग्दृष्टि जीव को जघन्य अंतरात्मा कहते हैं।

प्रश्न—३ (क) सात तत्त्वों के नाम लिखकर संवर तथा निर्जरातत्त्व के संबंध में मिथ्यादृष्टि क्या भूल करता है सो लिखो।

(ख) मिथ्यात्व और रागादि प्रगटरूप से दु:ख देने वाले हैं, तथापि उनके सेवन करने में कौन सुख मानता है और यह किस तत्त्व की भूल है ?

(ग) यदि त्रस और स्थावर की यों व्याख्या की जावे कि जो चल सके, वह त्रस और जो न चल सके, वह स्थावर तो क्या दोष आता है—दृष्टान्त देकर समझाओ।

उत्तर—३ (क) जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं (पुण्य और पाप आस्रव और बंध में गर्भित हो जाते हैं)

संवर तत्त्व में मिथ्यादृष्टि की भूल—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा उनसे युक्त वैराग्य एवं ज्ञान और राग-द्वेष छोड़नेरूप संवर यद्यपि आत्मा को लाभदायक है, तथापि उसे कष्टदायक मानना, सो संवरतत्त्व की भूल है।

निर्जरा तत्त्व में मिथ्यादृष्टि की भूल—आत्मस्वभाव की प्रतीतिसहित शुभाशुभ इच्छाओं का निरोध करना, सो तप है और उस तप से निर्जरा होती है, तथापि वह अज्ञानी को कष्टदायक मालूम होता है और आत्मा के ज्ञानादि गुण को भूलकर पाँच इंद्रियों के विषयों का सेवन करता है और उसी में सुख मानता है, यही निर्जरातत्त्व की भूल है।

(ख) मिथ्यात्व और रागादि आत्मा को प्रगट दु:ख देनेवाले हैं, तथापि मिथ्यादृष्टि जीव उनका सेवन करने में सुख मानता है, वह आस्रवतत्त्व की भूल है। क्योंकि मिथ्यात्वादि आस्रव प्रगट दु:ख देनेवाले हैं, तथापि मिथ्यादृष्टि उन्हें सुखदायक मानता है।

(ग) यदि ऐसी व्याख्या करे कि 'जो चल सके, वह त्रस और जो न चल सके, वह स्थावर' तो अतिव्याप्ति दोष आता है। क्योंकि (१) हवा, पानी इत्यादि स्थावर हैं किन्तु चलते हैं, इसलिये उन्हें त्रस मानने पर अतिव्याप्ति दोष आता है। और (२) अयोग केवली त्रस है, किन्तु वे चलते नहीं हैं, इसलिये उन्हें स्थावर मानने में अतिव्याप्ति दोष आयगा, इसलिये उपर्युक्त त्रस स्थावर की परिभाषा ठीक नहीं है किन्तु एकेन्द्रिय जीव स्थावर और दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक त्रस हैं—ऐसी त्रस-स्थावर की परिभाषा है।

प्रश्न—४ (क) शरीरों के नाम बताओ और यह लिखो कि किस जीव के एक, दो, चार और पाँच शरीर होते हैं ?

(ख) अगृहीत मिथ्यात्व, प्रतिजीवी गुण, बंध, भावहिंसा और समुद्घात की मात्र परिभाषा लिखो।

उत्तर—४ (क) औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण ये पाँच शरीर हैं, एक शरीर किसी भी जीव के नहीं होता।

दो शरीर विग्रह गति में रहनेवाले जीव के होते हैं अर्थात् जब जीव एक भव में से दूसरे भव में जाता है, तब उसके तैजस और कार्माण ये दो शरीर होते हैं।

छठे गुणस्थानवर्ती किसी मुनि के औदारिक, तैजस, कार्माण और आहारक ये चार शरीर होते हैं।

पाँच शरीर किसी भी जीव के नहीं होते।

(ख) अगृहीत मिथ्यात्व—जो मिथ्यात्व अनादिकाल से चला आया हो, उसे अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।

प्रतिजीवी गुण—वस्तु के अभावरूप धर्म को प्रतिजीवी गुण कहते हैं, जैसे नास्तित्व।

बंध—अनेक पदार्थों में एकत्व का ज्ञान कराने वाले संबंधविशेष को बंध कहते हैं।

भावहिंसा—आत्मा में जो अज्ञान, रागद्वेष आदि विकारी भाव होते हैं, सो भावहिंसा है।

समुद्घात—मूल शरीर को छोड़े बिना आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना, सो समुद्घात है।

प्रश्न—५ निम्नलिखित प्रत्येक वाक्य समझपूर्वक कहनेवाला द्रव्य के सामान्य गुणों में किस गुण को स्वीकार करता है सो लिखो :—

(१) सुख प्राप्त करना प्रत्येक जीव का प्रयोजन है।

(२) जब मैं छोटा था, तब मुझ में कम ज्ञान था किन्तु धीरे धीरे उसमें विकास हो रहा है।

(३) सिद्धत्व को प्राप्त हुये प्रत्येक आत्मा के अपना आकार होता है।

(४) शरीर में चाहे जैसा कठिन रोग हो जाय, तथापि वह मेरे एक भी गुण का नाश नहीं कर सकता।

(५) विकार क्षणिक है, इसलिये उसे दूर करके मैं निर्विकारी हो सकता हूँ।

(६) इस जगत् का कोई भी कर्ता नहीं है।

(७) कर्म का तीव्र उदय होने पर भी आत्मा का ज्ञानगुण कभी भी सर्वथा नाश नहीं होता।

(८) मेरा आत्मा मेरा ज्ञेय है, इसलिये मैं अपने को जान सकता हूँ।

उत्तर—५ (१) 'सुख प्राप्त करना प्रत्येक जीव का प्रयोजन है' यों समझने वाला **वस्तुत्वगुण** को अंगीकार करता है।

(२) 'जब मैं छोटा था तब मुझ में अल्पज्ञान था, किन्तु धीरे-धीरे उस में विकास हो रहा है' यों समझने वाला **द्रव्यत्वगुण** को स्वीकार करता है।

(३) 'सिद्धत्व को प्राप्त हुये प्रत्येक आत्मा के अपना आकार होता है' यों समझनेवाला **प्रदेशत्वगुण** को अंगीकार करता है।

(४) 'शरीर में चाहे जैसा कठिन रोग हो जाय, तथापि वह मेरे एक भी गुण का नाश नहीं

कर सकता' इस प्रकार समझने वाला **अगुरुलघुत्वगुण** को स्वीकार करता है।

(५) 'विकार क्षणिक है, इसलिये उसे दूर करके मैं निर्विकारी हो सकता हूँ' यो समझने वाला **द्रव्यत्वगुण** को स्वीकार करता है।

(६) 'इस जगत् का कोई भी कर्ता नहीं है' इस प्रकार समझनेवाला **अस्तित्वगुण** को स्वीकार करता है।

(७) 'कर्म का तीव्र उदय होने पर भी आत्मा का ज्ञानगुण कभी भी सर्वथा नाश नहीं होता' यों समझनेवाला **अगुरुलघुत्वगुण** को अंगीकार करता है।

(८) 'मेरा आत्मा मेरा ज्ञेय है, इसलिये मैं अपने को जान सकता हूँ' यों समझनेवाला **प्रमेयत्वगुण** को स्वीकार करता है।

नोट—उपरोक्त उत्तर चार विद्यार्थियों की ओर से प्राप्त उत्तरों में से दिये गये हैं। इन विद्यार्थियों ने श्री सनातन जैन शिक्षणवर्ग सोनगढ़ में अल्पकालिक अध्ययन करने के बाद इतना ज्ञान प्राप्त कर लिया है। तथा निम्नलिखित उत्तर छोटी उम्र के तीन विद्यार्थियों की ओर से प्राप्त हुये हैं—

अल्पवयस्क विद्यार्थियों के लिये

प्रश्न १—द्रव्य के कितने भेद हैं, उनके नाम बताओ।

उत्तर १—द्रव्य के ६ भेद हैं (१) जीव, (२) पुद्गल (३) धर्मास्तिकाय (४) अधर्मास्तिकाय (५) आकाश और (६) काल।

प्रश्न २—मुख्य सामान्य गुणों के नाम बताओ।

उत्तर २—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व के मुख्य सामान्य गुण हैं।

प्रश्न ३—वर्गणाएं कितनी प्रकार की हैं, उनमें से मुख्य वर्गणाओं के नाम बताओ।

उत्तर ३—वर्गणाएं २२ तरह की हैं, उनमें से आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और कार्माणवर्गणा मुख्य हैं।

प्रश्न ४—कौन-कौन द्रव्य अस्तिकाय हैं ?

उत्तर ४—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं।

प्रश्न ५—परिणमनहेतुत्व किसे द्रव्य का विशेष गुण हैं ?

उत्तर ५—परिणमनहेतुत्व कालद्रव्य का विशेष गुण है।

प्रश्न ६—उस द्रव्य का नाम बताओ जिसमें बाकी के सब द्रव्य रहते हों?

उत्तर ६—आकाशद्रव्य में सब द्रव्य रहते हैं। वास्तव में तो प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपने में ही रहता है, कोई द्रव्य दूसरे में नहीं रहता, किन्तु यह व्यवहार से कहा जाता है।

प्रश्न ७—प्रत्येक द्रव्य में ऐसा कौनसा गुण है जिससे वह जाना जाता है?

उत्तर ७—प्रत्येक द्रव्य में प्रमेयत्वगुण है, इसलिये वह जाना जाता है।

प्रश्न ८—क्या बिना आकार के कोई वस्तु है? सकारण लिखो।

उत्तर ८—बिना आकार की कोई वस्तु नहीं है क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में 'प्रदेशत्वगुण' विद्यमान है, इसलिये वस्तु का कोई न कोई आकार अवश्य होता है।

योगीन्द्र-वंदना

योगीन्द्र! तव चरणारविन्दों को वन्दन करूँ!
उन्नत गिरि-अंगों के सदा ही निवासी आप,
आये हैं रंक घर पुण्य का प्रभाव है;
पूर्ण अर्पणता हमें आती है नहीं नाथ!
प्राप्त कब करेंगे उर करुण का लाभ हम— योगीन्द्र....(१)
सत्यामृत बरसाया आपने इहि काल,
आशय गंभीर अति और महा गहान है;
नन्दनवन के समान शीतल छाया प्रसार,
ज्ञान सूर्य की अपार ज्योति है प्रगट हुई! योगीन्द्र.... (२)
अमूल्य अरु महामहिम सुतनु शासन देवी के,
और आत्मार्थी की एक अनुपम आंख हैं;
सन्त सलौना है, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि,
पंचम विषम काल में दर्शन तव दुर्लभ है! योगीन्द्र.... (३)

[समवशरण स्तुति, पृष्ठ ४० का भावानुवाद]

सोनगढ़ में पर्युषण पर्वाधिराज

भाद्रपद शुक्ला पांचम से श्री जिनमंदिर एवं श्री स्वाध्याय मंदिर विशेष प्रकार से सजाया गया। नित्य प्रात:काल जिनमंदिर में बड़ी पूजा हुई। जिसमें करीब ७५-१०० भाई-बहिनें भाग लेते थे।

सुबह ८ से ९ तक पूज्य श्री कानजी स्वामी का नित्य हरएक धर्म पर श्री पद्मनंदि पंचविंशतिका के दश लक्षण धर्म अधिकार के आधार पर करीब आध घंटा तक अपूर्व व्याख्यान होता जिसमें उत्तम क्षमादि धर्म का सच्चा स्वरूप बतलाया जाता था। बाद में श्री परमात्म प्रकाश पर प्रवचन होता था। और बाद में १०.०० तक पूज्य स्वामीजी के समक्ष तत्त्वचर्चा होती थी।

दोपहर के एक बजे से दो तक पंचाध्यायी का वांचन श्री रामजीभाई द्वारा होता था। २.०० से ३.०० तक पूज्य श्री कानजी स्वामी श्री समयसार शास्त्र पर अद्वितीय प्रवचन करते थे। ३.०० से ४.०० तक श्री जिनमंदिर में भक्ति होती थी। पूज्य श्री कानजी स्वामी हमेशा ही भक्ति में शामिल रहते थे। लेकिन भाद्रपद शुक्ला ११ को विशेष उल्लास आने से स्वयं आपने ही भक्ति बुलवाई।

४.०० से ५.०० तक श्री जयधवला ग्रंथ का वांचन पूज्य स्वामीजी के समक्ष होता था। तथा संध्या को ६.०० बजे श्री जिनमंदिर में आरती होने के बाद ७.०० से ८.०० तक श्री जैन सिद्धांत दर्पण (पं. गोपालदासजी बरैया कृत) का श्री रामजीभाई द्वारा वांचन होता था। एवं ८.०० से ९.०० तक पूज्य स्वामीजी के साथ तत्त्वचर्चा होती थी। उपरोक्त कार्यक्रम नित्य हो रहा था।

अनंत चतुर्दशी को दोपहर में एक से दो बजे तक श्री समयसार मूल गाथाओं की गुजराती पद्यानुवाद की सुमधुर ध्वनि में सामुहिक स्वाध्याय की गई थी। आज का दिन की भक्ति तो अपूर्व ही थी। भक्ति बोलनेवाली पवित्र बहिनों ने भक्ति की तल्लिनता में अपने आपको भी भूला दिया था। आज आरती के समय पूज्य श्री स्वामीजी भी उपस्थित थे। बाद में ७.०० से ८.०० तक सामुहिक सांवत्-सरिक प्रतिक्रमण हुआ। आज के दिन सर्व भाई एवं बहिनों में अति उत्साह दिखाई देता था।

पूज्य श्री कानजी स्वामी के मुख से व्याख्यान में बारबार यह निकल जाया करता था कि यही सच्चे पर्युषण पर्व हैं और ये महान-पर्वाधिराज हैं। हरएक गाँव में इन पर्वाधिराज का महान उत्सव होना चाहिये एवं सम्यक्चारित्र के अंगरूप दशलक्षण धर्म का वांचन होना चाहिये।

आसोज वदी एकम श्री क्षमापना दिवस का उत्सव तो एक अनोखी छठा एवं बहुत आनंद का था। हमेशा के कार्यक्रम के अतिरिक्त आज सुबह में ९.०० से १०.०० तक श्री जिनवाणी की पूजा एवं भक्ति की गई तथा दोपहर में प्रवचन के बाद श्री रत्नत्रय मंडल की विधिपूर्वक पूजा की गई एवं उसके बाद श्री सीमंधर भगवान का १०८ कलशों द्वारा विधिपूर्वक महाभिषेक किया गया। आज अभिषेक के दिवस की जिनमंदिर की सजावट एवं सर्व भाई-बहिनों की अपूर्व उत्साहयुक्त कार्य संलग्नता देखने ही लायक थी एवं अभिषेक के समय का द्रश्य एक अपूर्व ही था। जिनमंदिर के मध्य में क्षीर सागर की स्थापना की गई थी, वहाँ से दोनों ओर पंक्तिबद्ध मुकुट आदि से सुसज्जित इन्द्रगण क्षीर सागर में से १०८ कलशों को-जो पहिले से भली प्रकार सजाकर रखे गये थे, भर-भरकर हाथों हाथ सौधर्म एवं ईशान इन्द्र तक पहुँचाते थे और वे दोनों भगवान पर अभिषेक करते थे तथा एक इंद्र नृत्य करता था और बाहर सुसज्जित देवगण बाजा बजा रहे थे और उपस्थित सभी भाई-बहिनें बड़ी उत्साह आनंद से अनेक स्तवन गा रहे थे, जय जयकार हो रहे थे। साक्षात् भगवान श्री सीमंधर स्वामी का जैसे सुमेरु पर जन्माभिषेक ही हो रहा हो ऐसा ही दृश्य था। अभिषेक के बाद अनेक इन्द्रों ने भगवान के समक्ष भक्ति भरा नृत्य किया एवं आरती आदि की।

ये सब दृश्य दर्शनीय ही थे। उसके बाद भगवान के समक्ष क्षमापना पाठ पढ़कर के क्षमापना दिन के कार्यक्रम का विसर्जन किया गया। यह सारे कार्यक्रम में पूज्य स्वामीजी भी उपस्थित थे।

फिर भी इन्द्रगण संतुलित नहीं हुये एवं करीब आध घंटे तक और भी नृत्य एवं भक्ति करते रहे और ''बोलो सीमंधर की जय बोलो कुंदप्रभु की जय''..... की अपूर्व धुन जमाई। बाद में बसने आपस में क्षमापना की।

इस प्रकार से यह पर्व अपूर्व आनंद उत्साह एवं विशेषताओं से पूर्ण हुआ।

—कुंवर नेमीचन्दजी पाटनी

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.२८-९-४७
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड